श्रीः

व्रात्यसंस्कारमीमांसा

अनेकदुर्वादिमतनिरसनपुरःसरं सर्वयुगसाधारण्येन
त्रैवर्णिकसद्भावसंस्कार्यत्वनिरूपणपरा-
भिनगाधिपतेः श्री १०८ मतः सोमयाजिराजस्योदय-
प्रतापाद्यादत्तसिंहदेववर्मणो निदेशेन
काशीस्थब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादकेन
पण्डितश्रीराममिश्रशास्त्रिणा प्रणीता

VRÁTYASANSKÁRA MÍMÁNSÁ

OR

THE EXISTENCE OF THE KSHATRIYAS AND VAIŚYAS IN ALL AGES PROVED:

COMPOSED AND PUBLISHED

BY ORDER OF H. H. THE RAJA OF BHINGA

BY

P. RÁM MIŚRA ŚÁSTRI,
PRESIDENT OF THE LITERARY
SOCIETY OF BENARES PANDITS.

काश्यां
चन्द्रप्रभायन्त्रे मेहतोपनाम्ना
श्रीजगन्नाथशर्मविदुषा प्रकाशिता च
संवत् १९४४

पहली बार
१००० पुस्तक

मूल्य ॥)

REGISTERED UNDER SECTIONS 18 AND 19 OF ACT XXV OF 1867

A SHORT PREFACE IN ENGLISH.

Many Pandits maliciously declare that there are no Kshatriyas and Vaiśyas in this Kaliy yuga; and that, even if they do exist, they should not be invested with the sacred thread.

Nágojíbhatta is the chief of these denouncers.

Out of malice which they inherit since the Peshwa's time, the Maharashtra Pandits and the like, holding Nágojíbhatta to be an authority, still often say so in their own houses, and also in public when they do not fear any pecuniary loss.

What a piece of falsehood and an instance of ignorance is such a statement! The wise are already aware of all this; however, I have taken the liberty to place before the public my Vrátya-Sanskara Mimánsa, designed to help them from being misguided by such wrong thoughts. But I think either this Nágojíbhatta cannot be identified with the famous grammarian, the author of Śekhar, who has noted down in his work on Práyaśchitta that there are Kshatryas and Vaiśyas in Kaliyuga, or, if he was the veritable author of Śekhar, he made this absurd statement at the instance of some ill-natured Rájá.

To prove myself useful in general, has long been my steady aim, especially in religious and philosophical matters connected with Bharata (India) where dissension prevails. It is a fact undeniable that if we Brahmans, Kshatriyas and Vaiśyas,
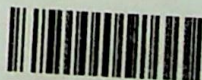
form a combination amongst ourselves, we can preserve the glory of our old Aryan race.

Under these circumstances, this small book tending to criticise the points declarative of the non-existence of the Kshatriyas and the Vaiśyas was brought out by me.

When the book passed into the hands of the patriotic and benevolent Raja of Bhinga, it attracted His Highness's notice. It was ordered to be printed and published both on account of its usefulness, and fitness to keep the Brahmans, the Kshatriyas, and the Vaiśyas in constant union.

His Highness also stated that proving the existence of the Kshatriyas and the Vaiśyas in Kaliyuga was like showing the sun or moon by means of a burning lamp, yet this treatise was sufficient to suppress the arrogance of the ignorant, who with the aid of the above mentioned Nágojíbhutta's work, kept safely in a corner of their houses, are desirous of excercising their jealous influence and sowing the seeds of disunion.

What return can I make for this pithy and patriotism-manifesting speech of the Raja? I can only express a wish that he may gain a name and fame by restoring the glory of his solar and lunar old, royal ancestors.

Elated with joy! I now entreat the Aryan descendants,* who yet hold an imperial sway over the whole world, to pay their undivided attention to the oldest and the best of our literary works, the Vedas, which have been neglected for

* Being scattered all over the civilised world.

hundreds and thousands of years, which being the words of God, the modern Pandits say, are unintelligible to man. The difficulty of the Veda-text has led me to write a book, called Sarvaveda Tatparyanirnaya, which will soon appear. Also Vedanta Shadvritti, to enable one easily to perform his ablutions in the ocean of Vadanta, will shortly follow.

P. S. RAM MISRA SASTRI,

WELL WISHER OF THE ARYANS AND PRESIDENT OF THE LITERARY SOCIETY, BENARES PANDITS.

hundreds and thousands of years, which being the words of God, the modern Pandits say, are unintelligible to man. The difficulty of the Veda-text has led me to write a book, called Sarvaveda Tatparyanirnaya, which will soon appear. Also Vedanta Shadsiddhi, to enable one easily to perform his ablution in the ocean of Vedanta, will shortly follow.

P. S. RAM MISRA SASTRI,

WELL WISHER OF THE ARYANS AND PRESIDENT OF
THE LITERARY SOCIETY, BENARES PANDITS.
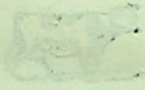
॥ श्री रामोजयति ॥

स्वस्तिश्रीनिगमागमतत्त्वविवेचनशीलेषु, काशीस्थब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादकेषु, वेदशास्त्रसंपन्नेषु, श्रीयुतपण्डितवररामसिश्रशास्त्रिषु, भिनगाराजधानीतः श्रीमन्महाराजाधिराजोदयप्रतापाद्यादत्तसिंहदेवबहादुरवर्मणोऽनेकप्रणामाः समुल्लसंतुतराम्
– विज्ञापना यह है कि –

केचित् महाशय कहते हैं कि कलियुग में क्षत्रिय और वैश्य का अभाव है, और इसका दृढ़तर प्रमाण नागोजीभट्ट का ग्रंथ मानते हैं, परन्तु इसका विचार नहीं करते कि 'प्रायश्चित्तेन्दुशेखर' किसका विरचित है जिस में अनेक स्थल में क्षत्रिय वैश्य का विषय लिखा है उस में से किंचित् प्रकाश करते हैं, – "अथ स्त्रीशूद्रक्षत्रवधे प्रायश्चित्तानि – । ब्राह्मणीवधे विप्रस्य षाड्वार्षिकं ब्रह्महत्याव्रतं । क्षत्रियवैश्यशूद्रजातिस्त्रीवधे तदर्धंतदर्धतदर्धानि" । तत्र वाशुचिद्रव्यस्पृष्टाभक्ष्यभक्षणप्रकरणे – "अन्यखातितचाण्डालादिपरिगृहीतताद्दशकूपादिजलपाने विप्रस्य सान्तपनं । क्षत्रियादीनां कृच्छ्रकृच्छ्रार्द्धपादाः" । इत्यादि –

इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि नागेश को क्षत्रिय और वैश्य से उद्देश नहीं था । "व्रात्यनिर्णय" किसी अशास्त्रज्ञ और आग्रही का बनाया है, कारण, कलि में क्षत्रिय वैश्य का अभाव होता तो

कलिकालोपयुक्तप्रायश्चित्तसंग्रहरूपस्वनिर्मित प्रायश्चित्तेन्दुशेखर में नागेश क्षत्रियवैश्यका विषय क्यों लिखते –

जब पेशवा का झंडा फहराया और पेशवा श्रीरामवंशज क्षत्रियकुलमुकुटालङ्कार महाराणा उदयपुर के राज्य में गये तब उनकी भेट की अभिलाषा की और भेट समय श्रीयुत महाराणा ने अपने समान आसन न दिया * उस काल से क्षत्रिय कुल से द्रोह उत्पन्न हुआ, और "कलावाद्यन्तयो: स्थिति: " इत्यादि निर्मूल वचन बनने लगे –

क्षत्रिय गण की तो ऐसे निर्मूल दुर्वाक्यों से कोई हानि नहीं हुई, पर अकारण द्रोह करने वालों की जो गति हुई वह सब को विदित है "क्षत्रियं चैव सर्पंच ब्राह्मणं च बहुश्रुतं । नावमन्येत वै भूष्णु: कृशानपि कदाचन ॥ १ ॥ एतत्रयं हि पुरुषं निर्दहेदवमानितं । तस्मादेतत्त्रयं नित्यं नावमन्येत बुद्धिमान्" ॥ २ ॥ इति अध्याय ४ श्लोक । १३५ । १३६ । यह भगवान् मनु का वचन कदापि निष्फल नहीं हो सकता –

जिस कुल में साक्षात् परमेश्वर राम – कृष्ण और जनक – विश्वामित्रादि महापुरुषों ने जन्म लिया उसकी अप्रतिष्ठा धर्मज्ञ और विचारवान् लोग कदापि न करेंगे –

* पेशवा महाराज बन कर महा राणा की बराबरी चाहते थे न कि ब्राह्मण बन कर ! यदि ब्राह्मण बन के चाहते तो अवश्य महा राणा उनको सिर पर रखते ।

यह वही क्षत्रिय कुल है जिसके द्वारा महर्षि गौतमादि को ब्रह्मविद्या प्राप्त हुई "स ह कृच्छ्री बभूव त७ ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार त७ होवाच यथा मा त्वं गौतमाऽवदो यथेयं न प्राक्त्वतः पुराविद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासन मभूदिति तस्मै हो वाच * ॥ ५ ॥ प्रपाठके ॥ ३ ॥ खंडे ॥ तत्रैवदशमखंडे – "यथेत माकाश माकाशाद्वायुं वायु र्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥ अभ्रं भूत्वा मेघो भूत्वा प्रवर्षति तइह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलामाषा इति जायंतेऽतोवै खलु दुर्निष्प्रापतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिंचति तद्भूय एव भवति ॥ ६ ॥ तद्य इह रमणीय चरणा अभ्याशोह रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिंवा क्षत्रिययोनिंवा वैश्ययोनिंवाथ इहकपूयचरण अभ्याशोह यत्ते कपूयां योनि मापद्येरन्श्वयोनिं शूकरयोनिं वा चांडालयोनिंवा" ॥ ७ ॥ इसमें विचारणीय यह है कि यदि कलि में क्षत्रिय वैश्य का अभाव मानें तो श्रुत्युक्तसृष्टि क्रम की भी विलक्षण कल्पना करनी होगी, कारण, स्वस्वकर्मानुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और श्वशूकर चांडाल योनि होती है, तो जिसका शुभ कर्म ब्राह्मण योनि प्रापक कर्म से किंचित् न्यून है उसको क्षत्रिय योनि को छोड़कर किस योनि में जन्म का संभव है, और जिसका कर्म क्षत्रिय योनि प्रापक कर्म से न्यून है उसको वैश्य योनि व्यतिरिक्त किस योनि में संभव है, यदि ऐसी कल्पना की जाय कि क्षत्रिय वैश्य योनि प्रापक कर्म का

* छान्दोग्योपनिषदि ।

भोग युगांतर में होगा तो यह कल्पना श्रुतितात्पर्य के प्रतिकूल है, क्योंकि कर्म भोगानंतर अव्यवहित काल में ही जन्म होता है युगांतर में होने का कोई प्रमाण नहीं, तथा एक दोष और भी आता है—जो ब्राह्मण सत्कर्म कर के तदनुसार आमुष्मिकफल को भोग के फिर कलियुग में ब्राह्मण जन्म को ही प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा किंचित् न्यून सत्कर्म कर्ता जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य जन्म का अधिकारी है उसको अधिक स्वर्ग फल प्राप्त होगा, कारण, उसको कलियुग के अनंतर क्षत्रिय वैश्य योनि में प्राप्त होना पड़ेगा ॥

कलि धर्म व्यवस्था निरूपण करने वाले श्रीपाराशर महामुनि ने भी कहीं क्षत्रिय वैश्य का अभाव नहीं कहा, और आधुनिक निबंध ग्रन्थ 'निर्णयसिंधु' 'नारायण भट्ट रुद्रानुष्ठानपद्धति' इत्यादि में भी क्षत्रिय वैश्य सत्ता बोधक बचन दृष्टि गोचर होते हैं उन बचनों को नीचे किंचित् प्रकाश करते हैं जिस से ज्ञात होता है कि कलियुग में क्षत्रिय वैश्य का अभाव कहना केवल उद्देश्यमात्र है और यह उद्देश्य ऊपर कह आये हैं स्वल्पकाल से उत्पन्न हुआ, ॥

"क्षत्रियोऽपि कृषिं कृत्वा देवान्विप्रांश्च पूजयेत् ।
वैश्यः शूद्रस्तथा कुर्यात्कृषिवाणिज्यशिल्पकं ॥ इति

पाराशरीये २ अध्याये आपद्वृत्तिप्रकरणे श्लोक । १८ । १९ निर्णयसिंधु में – "पितैवोपनयेत्पुत्रं तदभावे पितुः पिता । तदभावे पितुर्भ्राता तदभावे तु सोदरः ॥ पितेति विप्रपरं न

क्षत्रियादेः। तेषां पुरोहित एव। उपनयनस्य दृष्टार्थत्वात्। तेषां चाध्यापने उनधिकारात्। यह उपनयन प्रकरण में लिखा है। रुद्रानुष्ठानपद्धति में – "इह च रुद्रानुष्ठाने त्रैवर्णिकानामेवाधिकारः। न स्त्रीशूद्रानुपनीतानां। तेषां वैदिकसंयुक्तकर्मण्यध्ययनाभावेन साक्षाद्वचनाभावेन नाधिकारादिति"। तत्रैव। आचार्यवरणे – अमुकशर्माहं आचार्यं त्वां वृण इति वृणुयात्। क्षत्रिये त्वमुक वर्मेति। वैश्ये त्वमुकगुप्त इति"। ऐसा लिखा है।

चमत्कार यह है कि श्रुति स्मृति सकल शास्त्र और देशाचार व्यवस्था के विरुद्ध क्षत्रियवर्ण का तो कलि में अभाव माना जाता था पर कायस्थों के हेतु नवीनसृष्टि की कल्पना की गई और आश्चर्य नहीं कि यदि कायस्थों के अर्थ नवीन स्वर्ग लोक की भी अपेक्षा होती तो उसकी कल्पना में भी विलंब न लगता, कायस्थों का क्षत्रिय सदसद्भाव याज्ञवल्क्य और उशनास्मृती में स्पष्ट है – "चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः। पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः" ॥ याज्ञवल्क्ये आचाराध्याये श्लोकः। ३३६। "वैश्यायां विप्रतश्चौरात् कुंभकारः स उच्यते। कुलालवृत्त्या जीवेत नापिता वा भवंत्यतः। सूतके प्रेतके वापि दीक्षा काले थ वापनं। नाभेरूर्ध्वं तु वपनं तस्मान्नापित उच्यते। कायस्थ इति जीवेत्तु विचरेच्च इतस्ततः ॥ काकाल्लौल्यं यमात्क्रौर्यं स्थपतेरथ कृंतनं। आद्याक्षराणि संगृह्य कायस्थ इति कीर्तितः ॥" इत्युशनःस्मृतौ –

जब से कायस्थों को विना राज्य के राज्याभिषेक की तयारी

हुई तब से कलि में क्षत्रियाभाव का शब्द प्रायः सुनने में नहीं आता परंतु उस समय से व्रात्यतादोष की संभावना की गई —

संप्रति जिनके कुल में परंपरागत वेदोक्त संस्कार चला आता है उनको व्रात्यदोष का असंभव है प्रायशः संस्कारच्युत क्षत्रिय कुल अत्यल्प है उन में भी पूर्ण संस्कार च्युत नहीं हैं किंतु शास्त्रोक्त विधि में न्यूनता करते हैं, यदि किसी कारण से क्षत्रिय वैश्य कुल में व्रात्यता प्राप्त हुई तो उसको वेद शास्त्र संपन्न ब्राह्मणों को शास्त्रानुसार शुद्ध करना उचित है, क्योंकि परोपकार ब्राह्मणों का परम धर्म है, ब्राह्मणों का महत्त्व केवल भारत वर्ष में ही है। और आर्य धर्माभिमानी द्विजों के परस्पर द्रोह होने से परस्पर की हानी है — संप्रति समयानुसार स्व स्वधर्मयुक्त चारो वर्ण हैं उन में से एक ही को अपराधी मानना अनुचित है —

यदि यह कहा जाय कि सब वैश्य नास्तिक ही कर नष्ट हो गये तो सब के नष्ट होने में क्या प्रमाण ? और उसी समय में इसका भी विचार अवश्य करना होगा कि कुछ ब्राह्मण भी नास्तिक के अनुयायी हुये थे वा नहीं, और जब मुसल्मानों का उत्कर्ष भारत वर्ष में हुआ तब कितने ब्राह्मण स्वधर्मच्युत नहीं हुये ? और कितने हुये ? —

क्वचित् देश में अद्यावधि यह व्यवहार चला आता है कि अतिधनाढ्य अन्य जाती को हिरण्यगोमुखप्रसव करा कर ब्राह्मण

बना लेते हैं, और क्वचित् देश में शूद्र की विवाहिता स्त्री को ब्राह्मणी बना लेते हैं और तब उसके पति को दूसरा विवाह करना पड़ता है इस विषय में अधिक लिखने का प्रयोजन नहीं —

यदि क्षत्रिय वैश्य मात्र का निरपराध जाल्पमान किया जाय गा तो वे कदापि मौन धारण न करेंगे उन्हीं ब्राह्मणों को पूज्य मानेंगे जो कि क्षत्रिय वैश्य के शुभ चिंतक हैं और जो पयोमुख विषकुंभवत् व्यवहार करते हैं उन से प्रयोजन रखना धर्मशास्त्र से प्रतिकूल मानें गे — क्यों कि भगवान् मनु जी ने चतुर्थ अध्याय में ऐसा कहा है—"न वार्यपि प्रयच्छेत्तु वैड़ालव्रतिके द्विजे। न वकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२ ॥ त्रिष्वप्येतुषुदत्तं हि विधिनाप्यर्जितंधनं। दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेवच ॥ १९३ ॥ यथाप्लवेनौपलेन निमज्जत्युदकेतरन्। तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौदातृप्रतीच्छकौ ॥ १९४ ॥ धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिकोलोकदंभकः। बैडालव्रतिको ज्ञेयोहिंस्रःसर्वाभिसंधकः ॥१९५॥ अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः। शठोमिथ्याविनीतश्चबकव्रतचरोद्विजः" ॥ १९६ ॥ इति ॥

आप की विद्या सत्यभाषिता और लोकहितैषिता देख कर यह पत्र निवेदन किया जाता है कि आप कृपा पूर्वक क्षत्रिय — वैश्य का सदसद्भाव तथा व्रात्य दोष व्यवस्था का सप्रमाण उत्तर दे कर कृतकृत्य करेंगे यह पत्र केवल आर्यधर्महितेच्छा से लिखा गया हम को खंडन मंडन वाद विवाद करने की शक्ति और

प्रयोजन नहीं है, करुणावरुणालय सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर सुजातीय कुजातीय सब का प्रभु है ॥

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः ॥

शुभमस्तु—मिती कार्तिक शुक्ल ८ इंदुवासर संवत्— ९४४ ॥

श्री:

श्रीपतये नमः

श्रियै नमः

श्रीमते रामचन्द्राय नमः

श्रीमते रामानुजाय नमः

व्रात्यसंस्कारमीमांसायाः

भूमिका ।

बुद्धिमान वही है जो परलोक की और लोकापवाद की भीति करता है, चतुर सज्जन उसे अनभिज्ञ जानते हैं जो अपने लोक द्वयको अपनेही हाथ से विगाड़ले । हमारे भारतवर्ष में ईश्वर के अनुग्रह से लोक द्वय साधन संसार के सर्व धर्मपुस्तकों से सर्व विषय में उत्तमोत्तम, जगत् के समस्त पुस्तकों से प्राचीनतम, (जिसे हमारे धर्म के पराङ्मुख इसाई, मुसाई, तुरानी, कुरानी, जैनी, बौद्ध, ब्रह्मसमाजी आर्यसमाजी पर्य्यन्त समस्तही प्रशस्त कहते हैं) वे धर्म शास्त्र वेद हैं, जो कि चातुर्वर्ण्य लेकर सर्व धर्म का शासन करते हैं और वह चातुर्वर्ण्य संस्काराधीन है क्योंकि "जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते ।" यह महर्षिलोग स्वयं कहते हैं। और कलि में संस्कार की तो यह दशा होगई कि ब्राह्मण भी (जिन पर चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था का विश्वास किया जाता है) विन्ध्याचल में जाकर देवी के चरण में तागा स्पर्श कराके गले में पहन लेते हैं औ० उसे यज्ञोपवीत संस्कार मान लेते हैं जब ब्राह्मण का संस्कार ऐसा तब अपर वर्ण की कौन कथा है ? परन्तु अब ईश्वर की कृपा से मुद्रायंत्र द्वारा

पुस्तकादि प्रचार होने से सभी लोग अपने २ धर्म को देखना जानना चाहते हैं परन्तु शोक का स्थान है कि ब्राह्मण लोग शास्त्र और लोक की चिन्ता न करके केवल अज्ञानग्रहिल होकर अपने और अपने अनुचर अपर वर्ण के संस्कार व्यवहार के लोप में तत्पर हैं। बहुत से महात्मा ऐसे हैं कि वे गुप्तभाव से चार वेद और समस्त उपनिषद् की कथा एकान्त में व्रात्य वैश्यादिकों के घर पर कह आते हैं और जहां चार आदमी अपनी जाति के मिले वहां फिर वेद के मंत्र संस्कृत क्षत्रिय वैश्य के यहां भी नहीं पढ़ते।

कुछ दिन हुये कि मथुरा निवासी श्री गुरुसामलसेठ के पौत्र लक्ष्मीनारायण सेठ काशीजी में आये, और शिवरात्रि पर उन्हों ने मुझ से अभ्यर्थना करके वैदिक ब्राह्मण बुलवाये और मैं भी उस समय वहां उपस्थित था ब्राह्मणों ने वहां जाकर "चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः" इत्यादि श्लोक वैदिकस्वरकी चाल पर कहना आरम्भ किया, सेठ जी ने मुझ से पूछा कि "शास्त्री जी महाराज! यह कौन वेद है?" मैंने अपने मुखसे इस जाल की बात का उत्तर देना अनुचित जान जिन ब्राह्मणों को मैं ले गया था उन्हीं से पूछा कि 'यह सर्व व्यवहार आप लोग क्या करते हैं? सेठ तो आप बहुज्ञ हैं सभी बात जानते हैं और वेद भी इनका कुछ पठित है' तब तो वे लोग आपुस में कुछ बातचीत करके बोले कि 'हम लोगों में वैश्य के यहां वैदिक मंत्र पढ़ने का सांप्रदाय नहीं है' तब तो सेठने कहा कि महाराज! कोई चिन्ता की बात नहीं है एक दिन के अर्थ आप अपने संप्रदाय को नष्ट मत कीजिये परन्तु चाहे जिस श्लोक को वेद मत बनाइये। और फिर सेठने प्रत्येक ब्राह्मण की ओर दृष्टिपात किया तो क्या देखते

हैं कि एक ब्राह्मण उसी मण्डली में बैठाथा कि जिस ने उसी वर्ष में उनके यहां मथुराजी में श्रावण मास भर वेद का पारायण किया था तब वह उन वैदिक पंडित जी से प्रणाम करके बोले की आप अच्छे हैं ? बस इतना कहतेही वैदिक जी तो सुस्त हो गये । और सेठने पूछा कि आप अब काशी मे हमें अपने मुख कमल से वेद ध्वनि नहीं सुनावेंगे ? तब तो बोले कि सेठ जी ! क्या करें यह चार भाई के साथ की बात है यदि हम काशी में ऐसा वेदध्वनि करें तो हमें जाति बाहर होना पड़ेगा ! ! !

हमारे इस लेख का यहां प्रयोजन यह है कि "जो हम आगे व्यवस्था लिखने वाले हैं उसके अनुसार औ० शिष्ट संप्रदायके अनुसार जो निश्चित क्षत्रिय वैश्य हैं उनका उपनयन यदि शास्त्रीय है तो उपनयन कराके उनको शास्त्र श्रवण कराना चाहिये न कि अनुपनीत असंस्कृत क्षत्रिय वैश्य को अर्थवश छिप कर उपदेश करना । इस अवसर पर कितने आन्तर दृष्टि हीन केवल स्वार्थ साधक यह हठात् बोल उठेंगे कि "साहब कलिमें तो म्लेच्छ लोगों की भी तो वेद पढ़ाते हैं नहीं तो देशान्तर में वेद का प्रचार कहां से हुआ ब्राह्मणों नेही तो किसी देशान्तरीण को प्रथम पढ़ाया होगा कुछ आप ही आप तो वेद भजकर नहीं चलागया ? " तो यह बात ठीक वैसीही है कि 'आप की गैय्या को वत्स होय तो हमारा बैल क्यों नही वत्स जन्मावे' भला हम सुनिर्णीत क्षत्रिय वैश्य को व्रात्यता से छुड़ाने चले तो आप अब मिथ्या धर्म की आड़ देकर हमारी प्रतिष्ठा और धन लाभ की आशङ्का करके धर्म की ध्वजा को हाथ में लेकर क्षत्रिय वैश्य के संस्कार को म्लेच्छ के वेदाध्ययन से तुलित करने चले ! डरो मत,

हमने एक पैसा नहीं खाया है तुम्हें चाहो तो कुछ दिला दें, जब आप के समान बुद्धि के सागर देश के स्तम्भ बैठे हैं तब हमैं प्रतिष्ठा लाभ का तो उत्तम कर्म से संभवही कब है।

हां, निस्सन्देह यदि आप लोगों को घर बैठे पचीस २ रुपया दिलवावैं और मिथ्या व्यवस्था लिखी जाय तब कीर्त्ति की विशेष संभावना है, परन्तु परमेश्वर ऐसी कीर्त्ति और लाभसे दूर रक्खे, हमैं हमारी वर्त्तमान कीर्त्ति और लाभही बहुत है॥

मैं जो कुछ व्यवस्था लिखने वाला हूं उस्के सूत्र पात करने की यहां कुछ प्राचीन शिष्ट संवादों को भी लोगों के संदेह निवारणार्थ लिखना आवश्यक समझता हूं॥ दक्षिण में जब प्रसिद्ध शूर बली सेवाजी साहब ने मुसलमान बादशाहों को शिकस्त देकर अपना राज्य जमाया तब अपने संस्कारादि और वैदिक मंत्र से राज्याभिषेक कराने को उस समय के सुप्रसिद्ध महान् अलुब्ध पण्डितचक्रवर्तिगागाभट्टजी * काशी से बुलाये गये थे और ये महाशय वहां जाकर उनका सर्वकार्य वैदिक मार्ग से निर्वाह करा आये थे और जब जयसिंह जी महाराज ने यज्ञ किया था तब उन्हों ने भी देश देशान्तर से (काञ्ची प्रभृति प्रधान द्रविड देश के नगरों से भी विद्वान् आये थे) ब्राह्मण बुलवाये थे और वेही सर्वकार्य निर्वाहक थे अधिक कौन बात कहैं थोड़े दिन की बात है कि अलवर के महाराज विनय सिंहजीने परःसहस्र क्षत्रियों के संस्कार शास्त्रोक्त करवाये जिन के यहां संस्कार बहुत काल से च्युत हो गये थे॰

* Author of the *Gogabhatte*, the best and simplest among the recent works on Jaimini surta.

अब जाति कौन वस्तु है और उस का संरक्षण कैसे होता है यह सर्व हम विशेष रूप से संस्कृत में लिख चुके हैं ।

त्रिपुरुष (१) से अधिक संख्या के व्रात्य का संस्कार नहीं करना यह बात तो केवल पूना में पेशवा (२) घराने के राज्य प्रबन्ध के समय से चली है, इस का मूल इस प्रकार से हैं, कि दक्षिण देश में प्रायः क्षत्रिय वैश्य जाति हैंही नहीं जो कुछ थोड़े बहुत मुसलमानों के प्रथम उपद्रव के समय भारत के उत्तर पश्चिम दिग विभाग से भज कर वहां जा बसे, वे भी उस देश के निवासी कोल भिल्ल और महाशूद्रों में मिलकर उन से भी अधिक बिगड़ गये वस तो चलो यह बात सिद्ध हो गई कि "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" अर्थात् कलियुग में केवल ब्राह्मण और शूद्र वर्ण हैं और क्षत्रिय, वैश्य का तो नामही है परन्तु सत्य क्षत्रिय वैश्य नहीं और महाराज मैसूर प्रभृति के दूर स्थिति और मध्य भारत और राजपूताने के राजा लोगों से संबन्ध न होने के कारण वहां के उत्तम क्षत्रिय घराने भी अप्रसिद्धि में आ गये ! यह सर्व बुद्धिमान् एक मत होकर कहेंगे कि जाति वस्तु वह है कि जो सजातीय संबन्धी लोगों में रहने से ही प्रतिपन्न होसक्ती है तो दक्षिण में जहां कोलभिल्ल अद्यापि विराजमान हैं वहां एक दो क्षत्रिय वंश कैसे प्रसिद्धि को प्राप्त हो सकते हैं और जब पूना में पेशवाओं की ध्वजा फ़हराई

(१) त्रिपुरुषपद से पिता, पितामह, और प्रपितामह, लिये जाते हैं ।

(२) यद्यपि आप यवनी वेश्या रखते थे और उस के पैदा हुये लड़के को तमाम संसार के साम्हने गोद में खिला के बांदा वग़ैरह जगह की नबाबी देते थे । ! ! !

थी तब उन्हें उन के अतिरिक्त ब्राह्मणों पर भी घृणा और बदबू आतीथी (१) तो वैश्य क्षत्रिय, की कौन चलावे, वे तो धन के बल आर्यावर्त निवासी ब्राह्मणों को भी (रांगडा २) कहते थे बस हींग गई हींग की बदबू न गई, अब दरिद्र हुये तौ भी अपनी पुरानी बदचाल को नहीं छोड़ते, मोटे ताजे धनी बली (४) घमंडी के यहां तो चार वेद बिना पूछे पारायण करने को तयार; और कोई दूसरा यदि किसी संस्कृत निर्धन क्षत्रिय के घर एक मंत्र पढ़े तो फ़ौरन उसे जाति के बाहर करने का प्रबन्ध होय. आप भले रात्रि के समय कोठी में जाके औ॰ बिना पूछे जनक, याज्ञवल्क्य की कथा सुनावें औ॰ मन्त्र पर मन्त्र दें परन्तु दूसरे के माथे में मुसल का प्रहार करें !!!

हमें यहां सत्यता के पर वश होकर एक बात और कहे बिना सुख लाभ नहीं होता है, थोड़े दिन की बात है कि कायस्थ लोगों को भी अपने धन, विद्या, गुण, गौरव, की तरह जाति के बढ़ाने का हौसिला हुआ बस ये फ़ौरन रुपया बांध बनारस को रवाने हुये इन्हों ने बड़े पण्डितजी से प्रश्न किया कि हमारे मूल पुरुष कौन थे ? बस, कहीं पोथी पर का खयाल रुपये के गांठ पर चला गया, और भावी को बिना विचार के कहागया कि आप के मूल पुरुष क्षत्रिय हैं पस डबल प्रमोशन पाकर लाला

(1) The Jealousy of the Peshva family is self evipent, in as much as the last of that line was the ring leader in the massacre of heplless infant during the mutin. of 1857 at Cawnpur. This sad event moves all true hearts to tears.

(2) A man of law birth.

(४) यद्यपि द्वेषसे क्षत्रिय मात्र को घर में बैठकर वेदानधिकारी कहते हैं।

साहब ने पायलागन किया भेट दे कर घर गये. फिर कही याद आई कि भाई! क्षत्रिय को तो यज्ञोपवीत होता है हमें तो नहीं, हमारा गला तो शून्यही है ? फिर लालासाहब बनारस चलगुजरे और शास्त्रीजी को फिर आय पायलागन किया, परन्तु अब की दफे शास्त्री जी ने पहलेही से सुन लिया था की लाला साहब अब यज्ञोपवीत लेने का आग्रह करेंगे सो इस हेतु लालासाहब को देखते ही मुंह फेर लिया तब तो लालासाहब बोले कि महाराज! रसूम फ़िदवी की पहले ही जमा हो चुकी है और वही मुकदमा है एक मुकदमे में दो दफ़े रसूम तो सरकार के हाईकोर्ट में भी नहीं दी जाती है !!!

परन्तु इतने कहने पर भी जब पण्डितजी के दिल पर कुछ असर न देख पड़ा तो लालासाहब एक दम से बोल उठे कि ऐखुदा! अज़ब और गज़ब बनारस का शहर है कि जहां बातों के वास्ते रसूम जमा किया जाता है ख़ैर "तीरथ गये मुड़ाये सिद्ध" यह विचार लालासाहब ने बहुत कुछ भेट पूजा देने चाहा परन्तु पण्डित जी ने साफ़ कह दिया कि भैय्या! हमारा तो व्यवस्था देने का काम है और यज्ञोपवीत तुम्हें लेना होय तो तुम किसी गौड़ को कहो इतने पर तो लाला साहब बिलकुल ठंढ़े होगये और घर की राह धरी।

बस यही मामला इस समय इस अज्ञान का मूल हुआ कि तीन पुरुष के ऊपर जो व्रात्य हैं उन का संस्कार नहीं हो सकता, पण्डित जी ने रुपया भी मारा और आयन्दे को शास्त्रीय व्रात्य संस्कार के द्वार पर ऐसा लंघड़ डाला कि अनभिज्ञ लोग अभी-तक कहते हैं कि तीन पुरुष के ऊपर संस्कार नहीं हो सकता है

क्या उन्हों ने शास्त्र पढ़ा नहीं तो सुना भी नहीं ?

महर्षि आपस्तम्ब (१) अपने सूत्र में ऐसा कहते हैं कि "यस्य पितृपितामहो अनुपनीतौ स्यातां ते ब्रह्महसंस्तुतास्तेषां गमनं भोजनं विवाहमिति वर्जयेत्तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तम्" जिन के पिता और पितामह ने यज्ञोपवीत नहीं लिया वे 'ब्रह्मह' कहलाते हैं याने उन्हों ने ब्रह्म जो वेद उसको मारा अर्थात् उसकी आज्ञा को उल्लङ्घन किया और उन के साथ संस्कृत लोगों को सहवास भोजन विवाह इत्यादि नहीं करना चाहिये और उन की संतति यदि यज्ञोपवीत लेना चाहे तो प्रायश्चित्त करे, और फिर लिखते हैं कि "यथा प्रथमे ऽतिक्रमे ऋतुमेवं संवत्सरमथोपनयनं तत उदकोपस्पर्शनं, प्रति पुरुषं संख्याय संवत्सरान् यावन्तोनुपनीताः स्युः सप्तभिः पावमानीभिर्यदन्ति यच्च दूरक इत्येताभिर्यजुःपवित्रेण सामपवित्रेणाङ्गिरसेनेत्यपि वा व्याहृतिभिरेव वा सोऽध्याप्यः" इसका यह अर्थ हैं कि जैसे प्रथम मुख्य यज्ञोपवीत के कालोल्लंघन में ऋतुकाल (दो मास) ब्रह्मचर्य होता है तैसे अधिक काल विलंब होने से संवत्सर करना उचित है और उस के अनन्तर उपनयन लेना और फिर प्रति पुरुष संख्या से जितने पुरुष अनुपनीत होय उस संख्या से पावमानी नामक जो वैदिक मंत्र हैं उन से प्रायश्चित्त के अर्थ स्नान करना अथवा व्याहृति मंत्र से स्नान करना और उस के अनन्तर शुद्ध हुये पुरुष को वेदाध्यापन कराना ॥

(1) He dwells upon a very difficult subject concerning the Purva mimanasa and it is equally difficult to explain his ideas in the Hindi language in so few words as at this place. It would be better for those to read my Sanscrit explanation who wish to master the subject thoroughly.

इस के अनन्तर महर्षि आपस्तम्ब कहते हैं कि "यस्य प्रपिता महादीनां न स्मर्यंत उपनयनं ते श्मशानसंस्तुतास्तेषां गमनादिकं वर्जयेत्प्रायश्चित्तमिच्छतां तेषां द्वादशवर्षाणि प्रायश्चित्तं तत उदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिरथ गृहमेधोपदेशनं नाध्यापनं ततो योऽभिवर्तते तस्य संस्कारो यथा प्रथमेऽतिक्रमे, तत ऊर्द्धं प्रकृतिवत्" जिस के प्रपितामहादिक का अर्थात् परदादा का और उस के बाप का और उस के बाप के भी बाप का इत्यादि क्रम से संस्कार का श्रवण भी न होता होय. याने ऐसे काल से छूटा हो कि कोई यह ठीक नहीं कह सकता है कि इतने वर्ष से हमारा संस्कार भ्रष्ट हुआ है तब ऐसे स्थान में द्वादशवर्षब्रह्मचर्य कराना औ॰ पावमानी मंत्र के द्वारा प्रायश्चित्तार्थ स्नान करना उस के अनन्तर विवाहादि संस्कार करना और ऐसे महाव्रात्यों को वेद नहीं पढ़ाना. परन्तु उनकी संतति के संस्कार के समय जैसे किसी के केवल पिताही का संस्कार नहुआ होय और पितामहादिक का तो संस्कार हुआ होय उस स्थान में जैसा प्रायश्चित्तादि किया जाता है उस चाल से करना और उस की जो संतति उत्पन्न होयगी उस का बराबर अपने निज ब्राह्मण क्षत्रिय. वैश्य वर्ण के अनुसार यथोचित काल पर निर्विवाद संस्कार होगा।

यहां हम अपने शिष्य श्रोता जिज्ञासु जन के भली भांत जानने के अर्थ दृष्टान्त लिखते हैं अपने चित्त में ठान ल्यो कि एक तेजसिंहजी ठाकुर अथवा वैश्य है और उन्हें अब इच्छा हुई कि हमारी व्रात्यता छुटै और हम अपने वर्णोचित कार्य करें और संतति हमारी पवित्र उत्पन्न होय लेकिन स्मरण करो कि तेज सिंहजी यह नहीं जानते हैं कि कब से हमारे पूर्व पुरुष लोगों

का संस्कार च्युत हुआ और कितने वर्ष से न हुआ तब उन्हें शास्त्रानुसार दीर्घ प्रायश्चित्त करना होगा और पावमानी ऋचा से प्रायश्चित्तार्थ स्नान करना होगा परन्तु उन्हें सर्व वेद नहीं पढ़ाया जायगा (१) परन्तु उन के पुत्र रघुनाथ सिंह जी अथवा रघुनाथ प्रसाद जी को अपने क्षत्रिय, वैश्य वर्ण के अनुसार सर्व ही बात करनी होगीं, बड़े आनन्द की बात है कि बाप के प्रायश्चित्त होने से यदि पुत्र का अधिकार वेद पर आ जाय तो तेजसिंह जी को प्रायश्चित्त करने की मुसीबत अवश्य उठानी चाहिये और आप नहीं तो पुत्र ही को वेद पढ़ाना चाहिये गृहस्थ लोग संसार के सर्व सुख त्याग कर अपने संतति के सुख का उपाय करते हैं तो तेजसिंह जी को अवश्य अपने पुत्र की उत्तमता के अर्थ संस्कार करना चाहिये।

अब रही एक अनभिज्ञ लोगों की दंत कथा " कलावाद्यन्तयो: स्थिति: " इसका यह हाल है कि बहुत से लोगों ने अनेक मन: कल्पित वचन बना लिये हैं जैसे कि गंगा जी की स्थिति के विषय में लोगों ने बना रक्खा है कि " तदर्द्धं जान्हवीतोयं तदर्द्धं ग्रामदेवता:" इस्का अर्थ यह है कि कलि में दशहज़ार वर्ष पर्यंत विष्णु पृथ्वी पर वास करेंगे और पांच हज़ार वर्ष पर्यंत गंगा जी, और अढ़ाई हज़ार वर्ष पर्यन्त ग्रामदेवता रहेंगे याने गंगा जी का महात्म्य पांच हज़ार वर्ष के अनन्तर नहीं रहेगा इस वचन को अनभिज्ञ सर्वदा कहते हैं परन्तु यदि सच पूछना चाहो तो चार वेद चार उपवेद और अष्टादश पुराण में कही

(१) समस्त वेद नहीं पढ़ाया जायगा किन्तु केवल गृह कार्योपयुक्त मन्त्र पढ़ाये जायंगे।

भी इस्का मूल मात्र नहीं मिलता वचन की कौन कथा है और यही दशा "कलावाद्यन्तयोः स्थितिः" इस्की भी है। यद्यपि कुछ इस चाल पर 'रघुनन्दन भट्टाचार्य, ने अपने निबन्ध में लिखा है कि जिस से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि कलि में क्षत्रिय, वैश्य, वर्ण नहीं हैं परन्तु समझने की बात है कि वे उस देश के रहने वाले हैं जहां कि आर्य वंश के लोग अद्यापि स्वल्प निवास करते हैं तो ऐसे देश के निबन्ध कर्ता ने यदि अपने देश के तात्पर्य से यह लिखा कि कलि में क्षत्रिय, वैश्य नहीं हैं तो कौन ताज्ज़ुब है, हमारे ऋषि तो बिना यात्रा के उस देश में जाने से आर्य संतान को प्रायश्चित्त करने को कहते हैं "अङ्ग वङ्ग कलिङ्गेषु सौराष्ट्र मगधेषु च। तीर्थ यात्रां बिना गच्छन् पुनः संस्कार मर्हति॥" तो विचारिये कि जहां जाने का प्रायश्चित्त वहां रहने की कौन बात, आर्य संतान उस देश में अत्यन्त अल्प रहती है और जो है वह भी आर्य देश के दूर परित्याग के निमित्त से मिश्रित हो गई तब जो रघुनन्दन भट्टाचार्य का यह कहना कि 'कलि में क्षत्रिय, वैश्य नहीं हैं. सो निज देश के तात्पर्य से ठीकही है परन्तु यह कुरुक्षेत्र, (१) आर्यावर्त, (२) इन्द्रप्रस्थ (३) गुरुग्राम (४) कर्णालय (५) त्रिगर्त (६) गालवाश्रम (७) की निसर्ग पुण्य भूमि जहां आर्य संतान का आदि वास है. और जिसे द्विजसंप्रदाय की मातृभूमि बुद्धिमान् लोग कहते हैं, जिस

(1) The famous field of the Mahabharata.

(2) The great plain between the Himalaya and the Vindhya mountains where the Aryans first settled. 3) The modern Delhi (4) The modern Zila Gudagawan where Guru Dronacharya had pitched his tent during the famous war of the Mahabharata. (5) The modern Karnal where Raja Karna resided during the Mahabharata war

(6) The modern Tijara. (7) The modern Galta two miles from Jaipur.

भूमि में अद्यापि अहिंसा, अस्तेय, सत्यभाषण बल, वीर्य, पराक्रम, साहस, चातुरी मूर्त्ति धारण करके विराजमान है वहां द्विजसंप्रदायका (१) विच्छेद कहना बुद्धिमान का कार्य नहीं है, वह अमिश्रित आर्यसंतान मुखही से मालूम होती है सिंहशावक मार्जार के संग रहने से कदापि मार्जार नहीं ज्ञात होता, हम कलि में क्षत्रिय, वैश्य के शुद्ध वंशप्रचार होने में महाभारत, श्रीरामायण, और मन्वादि अष्टादशस्मृति का प्रमाण दे सकते हैं परन्तु एक छोटी सी बात पर बड़ा तूल करना कुछ आवश्यक नहीं है इस हेतु इसे अधिक नहीं लिखते औ॰ जो कुछ लिखा भी है तो संस्कृत में देखो ॥

और आज कल के धर्मशास्त्री लोगों की तो यह दशा है कि जहां जैसा देखा वहां वैसाही कह दिया और लिख दिया, व्यवस्था पूछने वाले के मुख पर है, न की धर्म शास्त्र पर, जिन देशों में ग़रीब जमींदार त्रैवर्णिक होते हैं वहां उन्हे उनके सहवर्ती वेद क्या शास्त्र भी पढ़ाने में नफ़रत करते हैं और जहां वेही लोग धनी, दौलतमन्द, और जागीर वाले हैं वहां उन्हें क्षत्रिय के समान व्यवहार करते हैं और जहां कि बहुतही अधिक उन्हीं

(1) Those who have heard of His Highness Maharaja Jayasinha of Jaipur and have witnessed with their own eyes the customs and manners of the present Maharajas of Bundi, Jambu &c. will never doubt the fact that true Kshtriyas still remain on the face of the Earth. A mere glance at his Highness the present Maharajah of Bundi will show that in his veins run the very blood which ran in those of Raja Ram Chandra &c. whose descendent His Highness is.

लोगों की रियासत हैं वहां उन्हें सर्व श्रेष्ट कहते हैं यह ठीकही है " माया तेरे तीन नाम परसू. परसो, परसराम " जब मनुष्य धन हीन होता है तो उसे लोग 'परसू' बोलते हैं, और जब वह कुछ खाने कमाने लगा तब उसे ' परसो ' बोलते हैं जब वह पुरुष अदृष्ट के वैभव से महाधनी होता है तो उसे सर्व मिल कर एक स्वर से ' परसराम ' कहते हैं। मेरे इस सर्व वृत्तांत के यहां लिखने का केवल यही प्रयोजन है कि व्यवस्था वह कहलाती है जो शास्त्र से होती है न कि छल रूप मुख देखी बात॥

अब इस अवसर पर कितने हमारे देश वासी गोबरपन्त शास्त्री यह कहते हैं कि "साहब वैश्य मात्र सर्वजैनी थे और इन्हें थोड़े दिन हुये कि वल्लभाचार्य ने गले में बद्धी (१) दे दी और हिन्दू बना दिया अब आप इन्हे द्विज बनाने चले बड़े अंधेर की बात है मुसलमान और जैनी में कुछ भी फ़रक़ नहीं है, जैसे वे वेद पराङ् मुख हैं वैसेही ये भी हैं। तो भला इस बात पर तनिक शरीर के भीतर आकर हम से बात चीत करिये यदि आप जामा से बाहर हो जांय तब हमें ईश्वर ने इतनी शक्ति नहीं दी है कि आप से बात करें भला जैन बौद्ध मत का प्रचार केवल वैश्य वंश ही में हुआ था अन्य वंश में नहीं ? आप ने अभी पण्डितजी घोखी बात कहने को सीखी परन्तु हृदय के परिष्कार और मार्जन की बात अभी सुनी भी नहीं, बुद्ध जो बौद्ध संप्रदाय का प्रवर्तक था वह किस जाति का लड़का था और उसके प्रथम शिष्य कौन हुए थे? बस इसी बात पर तो हमें शोक होता है कि आपने केवल घोखी बात कहना सीखी है और हाथ देते हैं ऐसी बड़ी बातों में जहां

(1) The rosary worn round the neck by the followers of Vallabhacharya.

चार वेद और चार ज़बान जानना आवश्यक है, सुनिये, इस बात को इतिहासवेत्ता अवश्य मानेंगे कि "शुद्धोदन" क्षत्रिय का पुत्र बुद्ध था, और उस ने प्रथम अपने ही घर और वंश के लोगों को बौद्ध बनाया याने वे उसके आनुयायी हुए और यह मत उस समय से लेकर आठ से वर्ष पर्यन्त भारत के अनेक राजा लोगों का मत था, पस यह बात सिद्ध है कि वैश्य विचारे ब्राह्मण क्षत्रियों के पाद रज हैं, इन्हों ने जब देखा कि ब्राह्मण तो निर्बल हुये और हमारे पालक रक्षक ठाकुर साहब बौद्ध तो हमें अब बिना बौद्ध हुये तिजारत और व्यापार का सुबीता नहीं, तो राजों के बौद्ध होने के अनन्तर हार कर वैश्य बिचारे जैनी हुये तो कहो कि अभी आप क्षत्रियों के यहां अन्य मंत्र की बात कौन चलावे महामंत्र गायत्री देने को लालायित हैं, और वैश्य विचारों से कुछ अधिक वसूल नहीं होता देख पड़ता तो उन्हें शूद्र बनाने चले ! सुनो मित्र ! औरङ्गजेबी राज्य नहीं है यह राजराजेश्वरी के प्रताप का मध्यन्दिन है सर्व पुस्तक मुद्रित होती चली जाती हैं मनुष्य मात्र को उच्च शिक्षा मिल रही है सर्व संसार चतुर हो गया है बल्कि तुम्ह जी झूठा कंठ शोख करते हो और वह बात सीखते हो कि जिस का नतीजा न यहां न वहां उन्हें लोग अब पण्डित नहीं जानते इस अवसर पर ऐसी भूल की बात मत कहो कि वैश्य जैनी थे और वे मुसलमान के बराबर हैं क्या तो तुम हमें क्षत्रिय वंश अद्यापि दिखलावो कि यह वह वंश है कि जिस वंश के लोग बौद्ध और जैन हैं अथवा यह मानो कि काल के महात्म्य और ईश्वर की कृपा से हमारे पूर्वाचार्य शंकर, रामानुज, यादव, भास्कर वल्लभ, ने संसार पर वल्लभता दिखलाई और

बड़े बड़े त्रैवर्णिक जैन बौध लोगों को वैदिक बनाया और जो कुछ आर्य वंश की बुद्धि पर मालिन्य आया था उसे अपने युक्तियुक्त वेद शास्त्र से मार्जन किया और उस वंशका आदि शास्त्र वेद उन्हें पढ़ाया, भला भैय्या! बिचारो तो जैसा अब तुम क्रोधान्ध होकर स्वार्थ साधन को चलते हो स्वार्थ साधन क्या सच पूछो तो अपने सहवासी और समस्तही आर्य संतान पर (१) द्वेष करतेहो यदि ऐसेही हमारे पूर्वाचार्य द्वेष बांध घर बैठते तो हमे तुम्हे आज एक भी वैदिक नजर नहीं आता और हम तुम भी जैन के घर पर जन्म लेते और परम पवित्र वेद शास्त्र के अनुयायी न होते यह उन महात्माओं का परोपकारक लोगों का कार्य है कि आज

(१) कितने गोवरपन्त तो ऐसे भी हैं कि जब जैसा चाहते हैं तब तैसा ही कहते हैं, औ० गुप्तपुटरिया हाथ लगै तो पतित-सावित्रीक की कौन कथा यवन पर्यन्त का भी कर्णकुहर अमृतधारा प्रपूरित करते हैं औ॰ यदि कोई उन्हें लौकिक वैदिकमर्यादा की बात कहै तो "उलटा चोर कोतवाल को दण्डे" की मसल हो जाती है द्वादशाध्यायीका पागुर कर पिनिक में दांत दिखाय विभीषका दिखलाते हैं औ॰ द्वादशाध्यायी में तुरही बजाते हैं मानो जैमिनिइत्यादि महर्षिलोग ने मीमांसादिक तो अकाल में क्षुधापीड़ित होय कर इन के यहां रिहन-मारदिये औ॰ कोई जानता ही नहीं। यह ठीक ही है शरीरात्माभिमान बड़ी वलाय है यह भया तब कौन बात अवशिष्ट है "योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते"

हम तुम वैदिक बने भारत वर्ष में पुजा रहे हैं और वेद शास्त्राचार्य बने हैं औ' हम ब्राह्मण समस्त द्विज मंडली के मुख्य और ज्येष्ठ हैं और ज्येष्ठ का कार्य कनिष्ठ का उपकार है तो बस अब हमे हमारे कनिष्ठ क्षत्रिय वैश्य का शास्त्र सिद्ध संस्कार कराना उचित है हमारे पूर्वज भारद्वाज, भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, अङ्गिरा अपनी द्विज संतान के अर्थ वेद रूपी खजाना रख गये हैं और इन्हे नाबालिक जान उस पर ज्येष्ठ भ्राता ब्राह्मण का ताला लगा गये हैं ताकि कोई उसे भूल भाल कर नष्ट भ्रष्ट न करदे उनका यह मतलब नही कि ज्येष्ट के ताला में यह वेद रूप संपति पड़ी हुई गल पच जाय परंतु तीनों भाई इसे "ज्येष्ठं श्रेष्ठेन भागिन" करके भोग करें अपने सह वर्ती अनार्य साधारण संतान पर्यन्त भी भारत रामायणादि रूप तदर्थोपदेश द्वारा कृतार्थ करें यह उनका इष्ट है बस यदि अब तुम अपने पूर्वजों की बात पर दृष्टि न देवोगे तो हम फ़ौरन नाबालकी की डिग्री करेंगे और (१) अदालत के ख़र्च समेत क्षत्रिय वैश्य को दिला मिलेगा और अदालत में यदि दरोग हल्फ़ी समझी जायगी तो (२) सजा भी होयगी ॥

और मेरे ज्येष्ठ बन्धु ! मैंने जो कुछ आप को कड़ा कहा है उसका कारण यह है की आप हम आर्य संतान बंधु हैं और बंधुका कार्य यह है कि नीरन्ध्र होकर सदुपदेश करें भला विचार करो कि तुम स्वार्थान्ध होकर बकोगे और मैं चुपचाप सुनूंगा यह कैसे मुमकिन है मै भी आर्य संतान हूं मिथ्या बात सुनकर

---

(१) यहां ईश्वर की अदालत से मतलब है

(२) ईश्वर के घर में

दक्षिण नेत्र, औ॰ बाहु स्फुरण होने लगते हैं येतो सर्व प्राण्यङ्ग हैं स्फुरण करैं सो ठीक ही है मेरी तो अचेतना लेखनी को भी रोमाञ्च होता है औ॰ अकाण्ड स्फुरण करने लगती है॥

शेष मे हमारी यही अन्तर्यामी जगदीश्वर से प्रार्थना है कि आप को वह सत्य प्रियता शक्ति देवैं और उस बुद्धि को दे कि जिस से आप सत्य और असत्य का विचार कर सकैं औ॰ मिथ्या दम्भ, औ॰ विजय की पताका उडाने की इच्छा भी न करैं॥

सुलभाः पुरुषा राजन्
सततं प्रियवादिनः॥
कटुकस्य च पथ्यस्य
श्रोता वक्ता सुदुर्लभः॥ १॥

आप त्रैवर्ण्य और चातुर्वर्ण्य का अकृत्रिम हितैषी काशीस्थ सुप्रसिद्धब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादकपण्डितवररामनिश्रशास्त्री॥

ब्रह्मार्पणमस्तु॥

(श्रीः)

(श्रियै नमः)

(श्रीपतये नमः)

(श्रीमते रामानुजाय नमः)

वर्णाश्रमाऽऽचारविलोपिदृप्य—
द्दशाननप्रष्ठखलिष्ठवर्गाः ।
आपुर्यदम्भोधरधीरगर्ज्ज—
च्चापीयरोपस्य शरव्यलीलाम् (१) ॥१॥
यस्यैव निश्वासगवीगणोऽयं
ब्रवीति वक्त्रं भुजभूरुमङ्घ्रिम् ।
विप्रांश्च राज्ञश्च विशश्च शूद्रां-
श्चेमा नसीम्नः परमस्य पुंसः (२) ॥२॥
नीलोत्पलच्छायसहायकाय—
श्रीके खलानां खलु लीलयैव ।

---

(१) वर्णधर्माणामाश्रमधर्माणाञ्चोच्छेदनेषूद्यता अहङ्कारिणश्च ये रावणादयो ऽत्यन्तदुष्टास्ते सर्वे यस्य श्रीरामचन्द्रस्य विशालधनुर्मण्डलाद्विनिर्गतशराणां क्रीडालक्ष्या इवाभूवन् तम् ।

(२) यस्यैव भगवतो निश्वासकल्पो ऽनायासोपदेशभूतो हिरण्यगर्भादीन्प्रति वाणसमुदायो वेदाख्यो ब्राह्मणादिवर्णान्यस्य मुखादिस्थानापन्नानाह, तम् ।

सर्वङ्कषे यत्र बिभर्त्ति शोभां
वाल्मीकिविन्यस्तसुवर्णलेखा (३) ॥ ३ ॥
यश्च व्यवातिष्ठिपदत्र लोके (४)
वर्णान्यथावच्चतुरोऽपि पूर्णान् ।
प्रशास्ति च स्म प्रविभक्तवृत्तां-
स्तान्सुस्थितांश्च व्यदधाद्बुधाग्र्यः ॥४॥
तमेव रामं द्विषतां विरामं
सराम (५) मेते प्रणमाम नाम ।
आसाम (६) चैतत्करुणार्णवस्याऽ
णुना कणेनाऽपि कृतार्थसार्थाः ॥ ५ ॥

---

(३) नीलकमलशोभायुक्ते पौलस्त्यप्रभृतिदुष्टानां चानायासेनैवोच्छेदके यस्मिन् श्रीरामचन्द्रे वाल्मीकिमुनिप्रवरनिर्मितशोभनाचरप्रबन्धः श्रीमद्रामायणकाव्यं शोभते, तम् । नीलवर्णे कषपाषाणे स्वर्णकारोल्लिखिता सुवर्णरेखा यथा सुवर्णसाधुत्वे शोभते तथा श्रीरामचन्द्रे वाल्मीकीयकाव्यमित्यादिदीर्घदीर्घो वैयञ्जनिकोऽर्थः ।

(४) चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्थापयिष्यति राघव इत्यादि वाल्मीकीयमत्रानुसन्धेयम् ।

(५) सरामं = सीतादेवीसहितम् ।

(६) अस्तेः प्रार्थनायां, लोटि उत्तमपुरुषबहुवचने रूपम् ।

॥ श्रीः ॥

प्रश्नाः अथ कलिकल्मषकालिमकलङ्किताः तदीयदुर्नीतिरीतिमहिममोहितस्वीयचेतनाशक्तयो विषमविषयविषभुजोऽस्थास्नुविषयवशंवदा विषयेष्वेव विषकीटाइव स्वीयसेव्यताबुध्यन्धधियः क्रियासमभिहारेण तेष्वेवानुरज्यमानाः। दिवाभीताइवान्धतमसप्रियाः। आम्नायतदीयाङ्गालोकपराङ्मुखनिजदृशः । सनातनवैदिकमहापथपथिककुलोद्भूताः अपि स्वयं महापथप्रच्युताः। आर्यपञ्चाननतनया अप्यज्ञानविजृम्भितावलम्बितशाश्वतिकनिजस्वभावाः (१)। अनार्यसङ्गमसुलभदुःस्वभावाः आरादेवोज्झितार्याचारास्तत्कुलं कलङ्कयन्तोपि सर्वथापि पैतृकमनुहरमाणा आर्यकुलकसुलभसाहजिकसौशील्याक्रचिमसुचेष्टितास्तिक्यमार्दवौदार्यगाम्भीर्याद्यनेकान्तरिकगुण-

(१) अज्ञानविजृम्भितेन अवलम्बितो निजः शाश्वतिकः—सार्वदिकः स्वभावः—शुनो धर्मो यैस्ते तादृशाः॥

गणगरिमप्रमाणीकृतनिजाभिजन्याः (१)।
अनार्यकुलदुर्लभकेशचक्षुर्भ्रूनासिकौष्ठसौष्ठवशालिनः। आर्यकुलैकलभ्यशारीरास्थिसंस्थानसंपत्संपन्नाः। निष्कम्पव्यवहारमूलभूतानादिसत्संप्रदायप्रसिद्धिशुद्धिसिद्धब्रह्मक्षत्रियवैश्यपदव्यपदेशभाजोऽमी कृपणाः। स्वप्रपितामहतत्प्रपितामहादितोऽपि च पूर्वं केचिद् याथातथ्येनासंपन्नस्वोपनयनसंस्काराः। वैदिकशैलीशालिभिरलुब्धैर्लौकिकहृदयभीरुभिरैहिकामुष्मिकार्थनिरीक्षणप्रविभक्तनिजक्षणैर्विचक्षणैसर्वतोभयैरप्यकुतोभयैः-पुनः संस्कार्या ? न वेति कलौ क्षत्रियवैश्यवंशसद्भावो न वा ? वृद्धव्रात्याः संस्कार्या न वा ? इति च (२)। त्रैवर्णिकजिज्ञासायाम्॥

सिद्धान्तोत्तरम्। संस्कारमर्हन्ति धर्मतइत्युत्तरम्॥
तथाचापस्तम्बधर्मसूत्रम्। * अतिक्रान्ते सावित्र्याः काले ऋतुं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदथोपन-

(१) आभिजन्यमुत्तमकुलोत्पन्नता॥

(२) एतत्प्रश्नत्रयार्थानुबन्धिनोऽन्येपि प्रश्नाः स्वयमूह्या उत्तरणीयाश्चेति प्रष्टृणामाशयः॥

* तत्र विषयविशुद्धये प्रथमत उपक्रमते

यनं ततः संवत्सरमुदकोपस्पर्शनमथाध्याप्यः"
इति तदर्थस्तु ब्रह्मक्षत्रादेः स्वीयसावित्रीग्रहण-
गौणकालोल्लङ्घने ऋतुमभिव्याप्य ब्रह्मचर्यमुपा-
स्रयीत ततश्च स व्रात्य उपनेयो भवति स चोप-
नीतः पूर्णं संवत्सरं यावदुदकोपस्पर्शनं कुर्यात्
ततश्चायं माणवक एवमाचरितव्रतः पुनरध्याप्यो
भवति अत्र प्रथमातिक्रमे उदकोपस्पर्शनं सामा-
न्यस्नानमन्त्रैरेव न तु पावमान्यादिमन्त्रनियमो
विशेषानभिधानादित्येतदग्रे व्यक्तीभविष्यति ।
त्रैविद्यकमिति त्र्यवयवाविद्या त्रिविद्या तामधी-
यते इति त्रैविद्यास्तेषामिदं त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं
तत्र गुरुशुश्रूषाग्निपरिचर्याध्ययनान्यपहाय सर्वो
ब्रह्मचारिधर्मः, ऋतुमिति त्वत्यन्तसंयोगार्थिका
द्वितीया । सू० । "यस्य पिता पितामह इत्यनु-
पेतौ स्यातां ते ब्रह्महसंस्तुताः"

यस्य—माणवकस्य पिता पितामहः 'इत्यनुपेतौ-
इतिरत्र प्रकारार्थस्तेन माणवकस्य मातामहादेः
सहाशिनः पितृभ्रात्रादेः पितामहभ्रात्रादेश्च
परिग्रहस्तेन ते समाणवकाः ब्रह्महसंस्तुताः—

ब्रह्महणः" इत्येवं ब्रह्मवादिभिरभिहिता वेदाह्वो-
ल्लङ्घित्वात्तेनैतेषामुपपातकिनां समीपे नाध्येत-
व्यमित्येवमादि फलति। सू०। "तेषामभ्यागमनं
भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत्" अभ्यागमोऽत्र
गतागतव्यवहारस्तमित्येवमादि व्याख्येयम् । इ-
ति चापि प्रकारार्थस्तेनैतैर्व्रात्यैः सहापरोऽपि मै-
त्रीष्टालापादि व्यवहारो नाचरणीयइत्यर्थः। अत्र
पितृपितामहाविति समासमुपेक्ष्य महर्षेर्व्यास-
समाश्रयणं 'ब्रह्मह' पदप्रवृत्तिनिमित्तकुक्षौ पि-
तृपितामहयोरुभयोरिवैकैकस्यापि पतितसावि-
त्रीकत्वं निमित्ततया प्रविष्टमिति दिद्योतिषया
ब्रह्मह--पदस्य प्रत्येकं तत्तद्धर्मावच्छिन्नबोधक-
तया पुष्पवन्तपदवन्नशक्तिरिति बुबोधयिषया च।
सू०। "तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तम्"। इच्छतामि-
त्युक्त्या बलात्कारेण, अश्रद्दधतां परोपदेशमावे-
गावज्ञापूर्वकं प्रायश्चित्तानुष्ठानं वा नैनसोऽपनु-
त्तये पर्याप्तमित्यसूसुचद्दषिः (१)। सू०। "यथा प्र-

(१) सूचयामासेत्यर्थः॥

थमेऽतिक्रमे ऋतुरेवं संवत्सरः" प्रथमेऽतिक्रमे--माणवकस्य स्वीयगौणकालस्याप्युल्लङ्घने ऋतुप्रमितः कालः एवमस्मिन्नतिक्रमं संवत्सरः--माणवकस्य पितामहमारभ्य स्वपर्यन्तं कालातिक्रमे पूर्णं संवत्सरं यावत्पूर्वोक्तरीत्या उपनयनस्वरूपयोग्यतौपयिकब्रह्मचर्यात्मकप्रायश्चित्तानुष्ठानमित्यर्थः। सू०। "अथोपनयनं ततउदकोपस्पर्शनम्"। ब्रह्मचर्यानुष्ठानानन्तरमुपनयनं ततो-वक्ष्यमाणमन्त्रैः प्रत्यहं स्नायादित्यर्थः॥

सू०। "प्रति पुरुषं सङ्ख्याय संवत्सरान् यावन्तोऽनुपेताः--स्युः"। अयमर्थः--यदि पितैव नोपनीतस्तर्हि संवत्सरमेकं पितृपितामहौ द्वावपि चेदनुपेतौ तदा द्वौ संवत्सरौ अथ माणवकोपि [१] यथाकालमनुपनीतो व्रात्यतामुपगतस्तदा त्रीन् संवत्सरान् यथाविधि उदकमुपस्पृशेत्। अथोदकस्नानमन्त्राः। सू०। "सप्तभिः--पावमानीभिर्यदन्ति यच्च दूरके इत्येताभिर्यजुःपवित्रेण

(१) ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्वस्वोपनयनमुख्यकालोल्लङ्घने इत्यर्थः॥

सामपवित्रेणाङ्गिरसेनेति"। पवमानः सोमो दे-
वता यासां ताः पावमान्यः (१) "यदन्ति यच्च
दूरके" एत्येताभिरेताभिरित्यर्थः। (२)
"यजुः पवित्रेण--आपो अस्मान्मातरः शुन्धय-
न्त्वित्यनेन। (३) सामपवित्रेण--"कया नश्चित्र
आभुवत्" इति ऋचा गीतेन वामदेव्येन साम्ना,
(४) आङ्गिरसेन हꣳसः शुचिषदित्यनेन एव-
मादिनाऽपः शिरस्यभ्युक्षेत्। सू० "अपि वा व्या-
हृतिभिः"। अयमर्थः--शिरोमार्जनं पूर्वोक्तैर्म-
न्त्रैर्व्याहृतिभिर्वा। सू०। "अथाध्याप्यः"। एवं
कृतपापप्रमार्जनोऽसावध्याप्यः, अथकारोऽत्र मा-
र्जनानन्तर्यं बोधयन्नध्ययनमार्जनयोः पौर्वापर्य-
निबन्धनप्रयोज्यप्रयोजकभावमवगमयतीत्यध्यय-
नाङ्गं मार्जनं नतूपनयनाङ्गमिति पर्यवस्यति॥

सञ्चिक्षिष्यास्तु पुनरिह "यस्य पिता पितामह-

(१) ऋग्वेदे ७ अष्टके २ अ० १७ वर्गे ९ मण्डले॥

(२) कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयब्राह्मणे १ अष्टके। ७ अनुवाके॥

(३) सामवेदसंहितायाम्। १ प्रपाठके १ अध्याये १२ सूक्ते॥

(४) अथर्ववेदे॥ ६ अनुवाके। ४ प्रपाठके। २ काण्डे॥

इत्यनुपेतौ” इति सूत्रे इति पदं प्रपितामहाद्युपलक्षकं ततश्चात्र सूत्रे एकादश पुरुषा माणवकमारभ्योपस्थाप्यन्ते । यस्य तु प्रपितामहादिनाऽनुस्मर्यत उपनयनमित्युत्तरसूत्रे च प्रपितामहादिपदेन द्वादशतमं पुरुषमारभ्याऽऽतनाः परिगृह्यन्ते । एवं च येषामख्यातयशसां (१) पञ्चषपुरुषाभ्यन्तर एव संस्कारविलुप्तेर्नावधारणं कति पुरुषानारभ्य संस्कारो याथातथ्येन च्युत इति तेऽनवधारितैयत्ताकसंस्कारच्युतिकस्वपूर्वपुरुषकाः एकादशपुरुषाभ्यन्तर एव वक्ष्यमाणं द्वादशवर्षात्मकब्रह्मचर्यानुष्ठानलक्षणप्रायश्चित्तमधिकुर्वन्ति ये च स्वपूर्वपुरुषीयसंस्कारच्युतिं याथातथ्येनावधारयितुं पारयन्ति तेऽमी च्युतसंस्कृतिक--स्वपूर्वपुरुषीयसंख्यासमसंख्याकाब्दान् यावदनुतिष्ठेयुर्ब्रह्मचर्यलक्षणं प्रायश्चित्तं, यथा कस्य चित् चत्वारः स्वपूर्वपुरुषा असंस्कृतास्तर्हि चतुरब्दप्रायश्चित्तं, पञ्च चेत् पञ्चाब्दप्रायश्चित्तं, षट् चेत् षडब्दप्रायश्चित्तमित्येकैकपुरुषाभिवृद्ध्या प्रायश्चित्ताब्दा-

(१) पञ्चानां षणां च पुंसामित्यर्थः ॥

भिवृद्धिरेकादशपुरुषपर्यन्तं तदनु पुरुषसंख्याभि-
वृद्धावपि द्वादशाब्दं वाचनिकप्रायश्चित्तं, युक्तश्चा-
यमर्थोऽन्यथा कथमिदर्षिर्माणवकस्य स्वीयगौ-
णकालोल्लङ्घने एकर्त्तुप्रायश्चित्तमभिधाय माण-
वकस्य पितुरनुपनयने तत्पितामहस्याप्यनुपन-
यने च "तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं यथा प्रथमे-
ऽतिक्रमे ऋतुरेवं संवत्सरम्" इत्यनुचितक्रमकं
प्रायश्चित्तं विदध्यात्, अत्र हि माणवकस्य गौ-
णकालोल्लङ्घने ऋतुमात्रं पितुरनुपनयने वर्षप्रा-
यश्चित्तं तदेव च पितामहस्याप्यनुपनयने इत्य-
त्यन्तमयुक्तिः प्रसज्येत, सम्भवन्त्यां लौकिकार्थ-
रीत्या व्यवस्थायां शास्त्रेषु लोकानादरो न युक्तः,
यथा "व्रीहीनवहन्यादित्यत्रावघातमात्रस्य शास्त्र
परिचोदितत्वेऽपि नावघातस्तत्र सांस्कारिक एवा-
द्रियते परंतु लोकसिद्धवैतुष्यात्मकफलपरिपाक-
दशापर्यन्तएवेत्यनभिहितावृत्तिकोऽप्यवघातश्चा-
वर्त्यते, एवमत्रापि धर्मशास्त्रीयार्थनिरूपणे तद-
विरुद्धयुक्त्युपष्टम्भदानस्यावश्यकतेति न सोपेक्षणी-
या। संस्कृतमातापितृकस्य माणवकस्य गौण-
कालोल्लङ्घने ऋतुमात्रं चेदवश्यमसंस्कृतमातापि-

तृकस्य माणवकस्य वर्षप्रायश्चित्ताचरणं शरीरस्य-
षाट्कौशिकत्वेन स्वशरीरारम्भकावयवानां च
मातापितृत्रयवप्रसादासादितोपचयानामेवाग्रेव-
र्द्धमानतया असंस्कृतमातापितृकेण स्वशरीरार-
म्भकावयवशोधनाय वर्षं यावद्ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं,
पितामहस्यानुपनीतत्वे च निरुक्तरीत्या वर्षद्वयं त-
तस्त्रयं ततश्चतुष्टयमिति युक्त्या लब्धपदेयं काल-
वृद्धिव्यवस्था । नचायमर्थोऽप्रतिकूलोपि सूत्राक्ष-
रैरसम्पृक्तइति शङ्कनीयम्, माणवकस्य ऋतु-
प्रायश्चित्तमभिधाय "यथा प्रथमेऽतिक्रमे ऋतुरेवं
संवत्सरइति साजात्यघटनया वत्सरप्रायश्चित्ता-
भिधानस्यैव निरुक्तयुक्तिमूलतया सूत्राक्षरैरेवो-
क्तार्थस्य लभ्यमानत्वात् । अन्यथा तेषामिच्छतां
प्रायश्चित्तं वत्सरमितम् । इत्येवालं कस्य हेतोः
साजात्यघटनाऽ, यत्र हि शास्त्रं प्रभुसंमानेन
किञ्चिद्विदधाति न तत्र सादृश्यमपेक्षते यथा-
ऽत्रैवाग्रे (१) अज्ञातपुरुषवर्षं यत्ताकसाविच्युति-

(१) यत्र षाविच्युतिपाते पुरुषाणां वर्षाणां च इयत्ता नावधारयितुं शक्येति तु निर्गलितम् ।

पातवतां पुंसां द्वादशाब्दप्रायश्चित्तानुष्ठानवि-
धानसमये "तेषां द्वादशाब्दं प्रायश्चित्तम्" (२)
इति व्यधादृषिः, नह्यत्र न्यायानुनयनीतनित्य-
निजानेहसोपि आस्तिकास्तर्कलवमप्यवलम्बन्ते,
एतेन पितुरनुपनयने यदेकाब्दप्रायश्चित्तं तदेव
चेत्पितामहस्याप्यनुपनयने "तर्हि लघुनि, लघु,
गुरुणि, गुरु, इति धर्मशास्त्रीयसामान्यनियमा-
वमाननाप्रसङ्ग इत्यप्यपास्तम्। एकैकपुरुषाभिवृ-
द्ध्या वत्सराभिवृद्धेरप्युक्तत्वात्, न चाग्रे पुरुषा-
भिवृद्धावुदकोपस्पर्शनवर्षाभिवृद्धेः "प्रतिपुरुषं सं-
ख्याय यावन्तो ऽनुपनीतास्युः" इत्यादिना महर्षि-
णाऽभिहितत्वात्कथं पितृमात्रस्यानुपनीतत्वा-
पेक्षया पितृपितामहयोरुभयोरनुपनीतत्वे मा-
णवकस्य प्रायश्चित्तसाम्यमितिवाच्यम्, नह्येकं
वैषम्यमस्तीत्यपरमपि स्वचाक्षरस्वरसलभ्यं वैषम्य-
मतिशायकं त्याज्यमितिदुराग्रहो युक्तः, नहि
शाकमस्तीति सूपे कश्चिदनादरो रसिकानाम्।
किंच एकस्य पितुर्व्रात्यत्वापेक्षयाऽपरस्य पिताम-

(२) प्रकथयदित्यर्थः।

दस्यापि व्रात्यत्वे व्रात्यपुरुषाभिवृध्योदकोपस्पर्श-
नवर्षाभिवृद्धिरुपनयनोत्तरकालीनाध्यापनेऽतिशय-
यमादधानापि अध्यापनात्पुरतोऽनुष्ठिते उपन-
यने न कश्चिदप्यतिशयमादध्यादिति पितृमात्र-
स्यानुपनीतत्वे यथा वत्सरप्रायश्चित्तमुपनयनौप-
यिकमेवं पितृपितामहयोरुभयोरनुपनीतत्वेऽपि
माणवकोपनयने एकवत्सरप्रायश्चित्तमनुष्ठेयं
चेत् "गुरूणि गुरु, लघुनि लघु, इति सामान्य-
नियमावधीरणा स्यान्नचासतिविशेषे सामान्य-
नियमानादरो युक्तः । नचापि पुरुषाभिवृद्-
ध्योदकस्पर्शनवर्षाभिवृद्ध्यतिशयोऽध्ययनौपयि-
को जनिष्यमाणोऽपि ततः प्राक्तन्यामुपनीताव-
पयोक्तमलमित्याशापिशाचीपैशुन्यपाराशर्यप्रा-
वण्यं युक्तम् इत्याचक्षते ॥

साधु तत् "यस्य पिता पितामह इत्यनुपेतौ"
इति सूत्रे इतिपदं सम्यगवगतसंस्कारविलुप्ति-
कावगतेयत्ताकस्वपूर्वपुरुषपरम्परावतां पुंसामे-
कादशावधिपुरुषपर्यन्तं संस्कारसङ्ग्राहकमिति ।
अस्ति चायमर्थः पुनरुत्तरसूत्राक्षरप्रसादलभ्यः

कथमन्यथा "प्रतिपुरुषं संख्याय संवत्सरान् यावन्तोऽनुपेताः स्युः" इत्याचार्यउदीरयेत् "यस्य पिता पितामह" इति सूत्रे माणवकान्तानां त्रयाणामेव परिजिघृक्षितत्वे हि 'प्रतिपुरुषं संख्याय संवत्सरान् येऽनुपेताः स्युरिति सूत्रघटना स्यात् अधिकानां सङ्ग्राह्यत्वे तु पुरुषसङ्ख्याव्यापकसङ्ख्याकाब्दपर्यन्तं स्नानबोधनाय युक्तं यावत्पदपरिग्रहणमित्यस्थूलधिषणा एवावधारयन्तु सुधीयां सः। वस्तुतस्तु प्रतिपुरुषं संवत्सरं येऽनुपेताः स्युरित्येव तथासति सूत्रघटना युक्ता नतु प्रतिपुरुषं संख्यायेत्यपि नहि लोके चीनामन्त्र्य विप्रान् दक्षिणादानसमये प्रतिपुरुषं संख्याय दक्षिणा देयेत्यवधापयति कश्चिदपि समयाभिज्ञः कमपि पुरुषमिति अधिकपुरुष संजिघृक्षयैवेह प्रतिपुरुषं संख्यायेत्याद्यभिहितम्। ततश्च संख्याबुद्धेः प्रामाण्यपरित्राणाय चतुष्ट्वपञ्चत्वाद्यात्मकसंख्याजनकापेक्षाबुद्धेरपेक्षालात्मकत्वाप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितत्वयोः संबलनाय प्रतिपुरुषं संख्यायेत्युक्तं युक्तमेव एवमेव च 'येऽनुपेता' इत्य-

पद्दाय यावन्तोऽनुपेताः स्युरित्यपि भवत्यनुप्रा-
णितं लोके त्रिषु यावन्तस्तावन्तइत्यादेर्व्यवहारस्य
दुर्मेधसां स्मरणशक्तिहीनानां संभवेऽपि सुमेध-
सामसंभवादिति पदवाक्यप्रमाणज्ञाः कृतधियो
विदाङ्कुर्वन्तु । सू० । "अथ यस्य पिता पिताम-
हादि ना (१) ऽनुस्मर्यंत उपनयनं ते श्मशान-
संस्तुताः" ।

प्रथमतः स्वस्य गौणकालोल्लङ्घने प्रायश्चित्तं तदनु
पितुरथ पितामहस्यानुपनयने प्रायश्चित्तमुक्त-
मिदानीं क्रमिकं माणवकप्रपितामहस्य आदि-
पदसंजिघृक्षितस्य, तत्पितृपितामहादेश्चानुपन-
यने प्रायश्चित्ताननुष्ठाने तेषामतिगर्हणीयताप्र-
दर्शनपुरःसरं महाप्रायश्चित्तमाह ? पूर्वं 'यस्य
पिता पितामह इत्यनुपेतौ' इति सूत्रेऽङ्गुली-
कृत्यावगतसंख्याकसंस्कारविच्छेदवत्पुरुषपरिग्रहो-
ऽत्रसूत्रे च 'नानुस्मर्यंते' इत्यनूपसृष्टेन नञ्सम-
भिव्याहृतेन स्मरतिना पितृपितामहप्रपिताम-

(१) अत्रानेकेषु धर्मशास्त्रप्राचीननिबन्धेषु यस्य प्रपितामहादीनां नानुस्मर्यंत उपनयनमिति पाठः ॥

इतत्प्रपितामहादिकालक्रमभूमसंबन्धनिबन्धन-स्मरणविषयत्वाभावो बोध्यते। एवं च समाणवका एते सर्वे श्मशानसंस्तुताः श्मशानवच्छुभे कर्मण्यध्ययनादौ परिहरणीयाः। यथा श्मशाने "श्म्याप्रासा" दित्यध्ययननिषेधएवमेषां संनिधौ नाध्येतव्यमिति तु फलितम्।

ननु पूर्वसूत्रे 'यस्य पिता पितामहइत्युपक्रमे एकवचनं मध्ये च 'ते ब्रह्महसंस्तुताः' तेषां गमनं भोजनमिति 'तेषामिच्छतामिति च बहुवचनमन्ते पुनरध्याप्य इत्येकवचनम्। एवमत्र सूत्रेऽपि प्रथमतो 'यस्य प्रपितामहादि इत्येकवचनं 'ते श्मशानसंस्तुताः' 'तेषां गमनमिति 'तेषामिच्छतामिति च बहुवचनं कथं संगच्छतामिति चेत्? जीवतां माणवकतत्पितृपितामहादीनां स्वव्रात्यतानिवृत्तिं चेच्छतां न संभूयैवाधिकारित्वं किंतु प्रत्येकमिति बोधनाय, अतएवान्ते 'अध्याप्य' इत्येकवचनम्। युक्तश्चायमर्थः ऋषिणैव तेषामिच्छतामित्यनेन त्रैवर्णिकतनयत्वसमानाधिकरणेच्छामात्रस्यैव निरुक्ताधिका-

रिताप्रयोजकत्वस्य स्फुटमभिधानात् "तस्मात्त-दुपर्यपि बादरायणः संभवा" दिति सूत्रोदितरीत्या अर्थित्वसामर्थ्ययोराराददधिकारित्वप्रयोजकयोर्माणवकतत्पितृपितामहादिसाधारण्यात्प्रत्येकमधिकारित्वमिति सुस्पष्टयिषया 'यस्य, अध्याप्य, इति चोपक्रमोपसंहारयोरेकवचनम्। न चोपक्रमोपसंहारानुरोधेनैकस्य माणवकस्यैवाधिकारित्वं माध्यमिकं बहुवचनं तु माणवकबहुत्वाभिप्रायमेवेति कुतो न कल्प्यतामिति वाच्यम् 'तेषामिच्छतामिति' सूत्रकृदभिमतेच्छाप्रयोजकत्वोपबृंहितस्य ते 'ब्रह्महसंस्तुताः' 'तेषामिच्छताम्' इति चतुः कृत्वोऽभ्यासस्य चान्यथयितुमशक्यतया बहुवचनस्य माणवकबहुत्वाभिप्रायकत्वकल्पनायाअयुक्तत्वात्। नचोपक्रमोपसंहारयोर्द्वयोरर्थनिर्णायकयोः सतोरेकोऽभ्यासः कथमर्थनिर्णयप्रभविष्णुरित्यतिफल्गु शङ्कनीयम् उपक्रमोपसंहारयोर्द्वयोः संभूय तात्पर्यनिर्णायकैकलिङ्गतायाः शास्त्रसंमततया अभ्यासस्य तदपेक्षया दौर्बल्यविरहेण उपपत्त्याद्युप-

बृंहितस्य बलवतस्तस्यैवार्थनिर्णायकताया युक्तत्वात् अनुमोदितश्चायमर्थस्तांड्यब्राह्मणे सप्तदशाध्याये चतुर्थखण्डे प्रथमब्राह्मणे तद्यथा "(१) अथैष शमनीचामेढ्राणां स्तोमो ये ज्येष्ठाः सन्तो व्रात्यां प्रवसेयुस्तएतेन यजेरन्नि" ति एतेन तचोपक्रमोपसंहारानुसारेण माणवकस्यैव प्रायश्चित्तमुपनयनमध्यापनंच बहुवचनं माणवकबहुत्वाभिप्रायमित्यवोचाम" इति प्रलपन् हरदत्तोपि निरस्तस्तथासति 'ते ब्रह्महसंस्तुता' इत्यादौ समाणवकानांपितृपितामहादीनां स्वयं ब्रह्महपदार्थतामाख्याय तेषामिच्छतामित्यच पुनर्माणवकमात्रस्य परामर्शोक्तिरयुक्तेः, अतएव (२)

१ शमेन मनोनिग्रहेण (मनोनिग्रहस्य चतुर्थे वयसि प्रायः संभवात् यौवनोपरमेणेति तु तदर्थः) ततश्च यौवनावसानेन नीचं अनुद्धतं पुंव्यापारासमर्थं आसमन्तात् मेढ्रमुपस्थेन्द्रियं येषां तेऽनेन व्रात्यस्तोमेन यजेरन्नित्युक्त्या वृद्धानामपि संस्कार्यत्वं सुव्यक्तम्। विशेषतश्चाग्रे निरूपयिष्यतेऽयमर्थः॥

(२) कात्यायनशिष्यतया प्रसिद्धेन भवान्तरे पारस्कराचार्यपदभाजा तत्र भगवता कात्यायनेनैव प्रणीते काण्डत्रयात्मके ग्रन्थे द्वितीयकाण्डीयषष्ठखण्डे॥

कातीये "त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च" त्युपक्रम्य 'तेषां संस्कारेप्सुर्व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन् व्यवहार्या भवन्तीतिवचनादिति" सूत्रे उपक्रमे 'तेषामिति' उपसंहारे च "अधीयीरन्" व्यवहार्याभवन्तीति च बहुवचनं मध्येतु 'संस्कारेप्सु' रित्येकवचनमेव ततश्चासति बाधके विधेये उद्देश्यतावच्छेदकप्रयोज्यताया उद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यतायाश्च बोधस्य व्युत्पत्तिबललभ्यतया प्रकृतविधेयव्रात्यस्तोमयागे संस्कारेप्साप्रयोज्यताया व्याप्यतायाश्च बोधस्यानुभविकतया संस्कारस्य माणवकनैयत्यनिराचिकीर्षया, प्रपितामहादिसमुदायपर्याप्ताधिकारितानिराचिकीर्षया च, औत्सर्गिकमेकवचनं "संस्कारेप्सु" रिति, ततश्च संस्कारकामनामात्रस्य प्रयोजकतालाभेन पितृपितामहयोर्जीवतोः स्वसंस्कारमनिच्छतोर्माणवकस्य स्वात्मानं संश्चिकीर्षोरधिकारिता स्वातन्त्र्येण सिध्यति, माणवके चानिच्छति इच्छतोश्च पितृ पितामहयोः स्वातन्त्र्येणाधिकारितासिद्धिस्त-

योरिति लभ्यते। ततश्चापस्तम्बीये उपक्रमोपसंहारानुसारेण माणवकस्यैव प्रायश्चित्तमुपनयनमध्यापनंचेति हरदत्ताभिधानं न केवलं शिथिलं परमुपहसनीयमपि अन्यथा कातीये उपक्रमोपसंहारयोर्बहुवचनानुरोधेन त्वदुदितार्थविपरीतार्थसिद्धिरित्यगत्या त्वयाप्यङ्गीकरणीयमित्यापस्तम्बीये आद्यन्तयोरेकवचनश्रवणं तवाकिञ्चित्साधकं परंतु दर्शितरीत्या मदुक्तार्थसाधकमेवेति सूक्ष्मदृशावधातव्यं। विशेषस्तु नागेशकुकल्पनाकवलनस्थलेऽग्रे द्रष्टव्यः।

नचारोपेसति निमित्तानुसरणं नतु निमित्तमस्तीत्यारोपइति न्यायेन प्रकृते यत्र बहुवचनसमर्थनमर्थनीयं तत्र तथा कल्प्यते यत्र त्वेकवचनमेव तत्र तत्तद्देकमाणवकव्यक्तिपरतैवति न किञ्चित् क्षतं न इति वाच्यम्। तथासति प्रकृतसूत्रेषु बहुवचनसमर्थनाया माणकबहुत्वाभिप्रायकत्वेन वक्तुमशक्यतया मदुक्तराजपथावलम्बने तवापि स्वस्तिसंततिसातत्यसौहित्यसंपत्तेस्त्वदु-

त्प्रेक्षितस्य (१) विसंष्ठुलस्य, श्रूयतात्पर्यवि-
षयस्य पथस्त्वयापि त्याज्यत्वादित्यलमुपयुक्तेषु
वैशद्यवतां परनिग्रहणसंनाहेन। सू०। "तेषा-
मभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत्तेषा-
मिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्र-
ह्मचर्यं चरेत्। अथोपनयनं ततउदकोपस्पर्शनं
पावमान्यादिभिः" प्रथमतो द्वादशवर्षब्रह्मचर्यं
ततउपनयनं ततः पावमान्यादिभिरुदकोपस्प-
र्शनम्"। अत्रोदकस्पर्शनकालनियमस्यानुक्तेः
"सकृदेव हि शास्त्रार्थः कृतोऽयन्तारयेन्नर" मि-
त्युक्तरीत्या गर्भाधानाधिकरणन्यायेन सकृदुद-
कोपस्पर्शनमेवालं विशुद्धये इति साहसिकाः।
अत्र संवत्सरमुदकोपस्पर्शनमित्यपरार्कः। प्राय-
श्चित्तसाम्याद्द्वादशवर्षाण्युदकोपस्पर्शनमिति तु
वयम्। पावमान्यादिभिरित्यनेन प्रतिपुरुषं सं-
ख्याय संवत्सरान्। इत्येतदपि द्रष्टव्यम्" इति
वदन् हरदत्तस्तु पुनरुपेक्षणीयस्तथासति पाव-
मान्यादिभिरित्येतदुक्तेर्वैयर्थ्यापातात्। प्रतिपु-

१ अनृजोर्मार्गस्य॥

रुषं संख्यायेत्यादेश्च योजनीयत्वे हि सर्वथापि पूर्वोक्तद्वितीयस्थलसाम्ये उदकोपस्पर्शनं पूर्ववदित्येवाभिदध्याद्दर्षिर्न पुनरुदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभि, रित्यतएवानिर्मूलत्त्वान्निर्युक्तिकत्त्वाच्चैष पक्षो हरदत्तीय (१) उपेक्षितोऽपरार्कप्रभृतिभिर्मान्यनिबन्धकारैः, वस्तुतस्तु हरदत्तोऽप्यमुं पक्षमुपेक्षतइत्यग्रे विवेचयिष्याम इति कृतधिय एवावधारयन्तु धर्ममर्मज्ञाः । सू० । 'अथ गृह्यमेधोपदेशनम् ।' अथ उदकसंस्कारानन्तरं गृह्यमेधोपदेशनं गृह्यकर्मोपयिकवेदैकदेशाध्यापनं नतु सरहस्यनिजशाखासर्वस्वाध्यापनमित्यर्थः । अत एवाह । सू० । 'नाध्यापनम्' । कृत्स्नस्य वेदस्येति फलति । सू० । 'ततो यो निर्वर्त्तते तस्य संस्कारो यथा प्रथमेऽतिक्रमे' । ततः—एवं कृतप्रायश्चित्ताद्गृहस्थीभूताद्यो निर्वर्त्तते—उत्पद्यते तस्य संस्कारो यथा प्रथमेऽतिक्रमे ऋतुकालं मासद्वयं ब्रह्मचर्यानुष्ठानं तत उदकोप-

(१) यथा चापरार्कग्रन्थविरोधः तथाऽग्रे मूलएव निवेदयिष्यते ॥

स्पर्शनं ततोऽध्यापनं सर्वस्यापि वेदस्य यथासम्भवमित्यादि योजनीयम् । सू० । 'तत ऊर्द्ध्वं प्रकृतिवत् । एवमुपनीतादूर्ध्वं यः पुनरुत्पद्यते स प्रकृतिवदुपनेतव्यः । ब्राह्मणक्षत्रियविशां य औपनायनिको मुख्यः प्रातिस्विकः कालस्तस्मिन्नेव ते उपनेतव्यास्तेषां पूर्वपुरुषीयव्रात्यताप्रयुक्तो न कश्चिदधमभावो न चाऽप्यनुष्ठेयं किञ्चिदधिकमिति भावः । साधु तद् बहुपुरुषपतितसावित्रीकाणामप्यापस्तम्बाद्युक्तैनोऽपनोदकदीर्घप्रायश्चित्तानुष्ठाने त्रैवर्णिकोचितकार्यकरणेऽधिकार इति समर्थितम् । अत्र प्रायः प्राचीननिबन्धाः शिथिला अन्धपरम्परापरिप्राप्ता विपरीताश्चापस्तम्बर्षितात्पर्यंत इति कृतं तेषु चित्स्थलेषु स्वातन्त्र्यमिव ऋषेरक्षरस्वारस्यलभ्यमिति क्षम्यतां बुधैः । सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेनार्थनिरूपणस्य शास्त्रसिद्धान्तसिद्धतया सर्वर्षिवाक्यैकवाक्यतयैवार्थनिरूपणस्यावश्यकत्वेन कातीयसूत्रार्थं विवेचयामस्तद्यथा "आषोडशाद्ब्राह्मणस्यानतीतः कालो भवत्याद्वाविंशाद्राजन्यस्याचतुर्विंशाद्वैश्यस्य

अतऊर्द्धं पतितसावित्रीका भवन्ति नैनानुपनये-
युर्नाध्यापयेयुर्न याजयेयुर्नैभिर्व्यवहरेयुः काला-
तिक्रमे नियतवत् त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणा-
मपत्येऽसंस्कारो नाध्यापनं च तेषां संस्कारेप्सुर्व्रा-
त्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्व्यवहार्य्या भवन्तीति
श्रुतेः ।" इति । तत्र ब्राह्मणक्षत्रविशां मुख्यानौ-
पनायनिककालानभिधाय । "आषोडशादि" त्या-
दिना गौणकालाभिधानं, गौणकालोल्लङ्घने तु
पातित्यमादिशति । "अत ऊर्द्धं पतितसावित्री
का" इति "नैनानुपनयेयु" रित्यनेनोपनयनं
निषेध्य "नाध्यापयेयु" रित्यध्यापननिषेधः केन
चिदनभिज्ञायार्थवशेन वा स्नेहानुबन्धेन वा प्र-
कारान्तरेण वोपनीते व्रात्ये तदध्यापनमप्यनर्थं-
करमिति बोधनाय । एवं न याजयेयुरित्यादिष्व-
नुसन्धेयम् । ननु कालातिपाते सर्वथा पुनरनुप-
नेयतैवापद्येतेत्याह "कालातिक्रमे नियतवत्"
कालातिपाते यथा श्रौतेषु स्मार्तेषु च कर्मसु
प्रायश्चित्तमनुष्ठाय प्रकृतकर्मानुष्ठानं नियतं ननु
सर्वथा कर्मलोपः काललोपमपेक्ष्य कर्मलोपस्या-

तिजघन्यत्वात्तथैवाचापि प्रायश्चित्तमनुष्ठाय भव-
त्युपनयनार्हता । यथा स्वस्योपनयनकालातिपाते
आपस्तम्बीयमृतुमितकालप्रायश्चित्तं पितुरनुप-
नयने संवत्सरमितप्रायश्चित्तमित्यापस्तम्बधर्मसूत्र-
व्याख्योज्ज्वलीयोह्यम् । ननु पतितसावित्रीका-
न्नोपनयेन्नाध्यापयेदित्यादिशातातपीयादिवाक्येषु
असकृदाम्नातपतितसावित्रीकपदप्रवृत्तिनिमित्तं
किम्? (१) विस्मरतितैश्चरूप्यात् कतिथं वा पुरु-
षमारभ्यानुपनयने भवति 'पतितसावित्रीक इति
व्यवहारः पुनरपत्येषु? इति शिष्यजिज्ञासामनुरु-
ध्य वा प्राह "त्रिपुरुषं पतितसावित्रीकाणामप-
त्ये ऽसंस्कारो नाध्यापनं च" इति, अत्र त्रिपुरु-
षमिति "संख्या वंश्येने" त्यव्ययीभावस्तथा च
पतितसावित्रीकाणां वंश्यानां त्रयाणां त्रिप्रभृती-
नां यदपत्यं चतुर्थपञ्चमादि तत्र संस्कार उपन-
यनं न भवति चकारस्य सूत्रस्थस्य समुच्चयार्थत-
या अध्यापनमपि नेत्यर्थः । वक्ष्यमाणव्रात्यस्तोमं

१ पतितसावित्रीकैः किं किन्नानुष्ठेयमित्यादिसौकर्येण बोध-
यितुं तत्र पतितसावित्रीकपदस्य पारिभाषिकतेति तु निगूढार्थः ।

विना संस्काराध्यापने न भवतस्तदनुष्ठाने तु तस्य सर्वैर्नोऽपकर्षकतया भवतः संस्काराध्यापने इति वक्ष्यते। अत्र त्रिपदं चतुःपञ्चाद्युपलक्षणं "सञ्ज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् व्या०। सू०। अ० २। पा० ४ "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" अ० २ पा १। सू० २ इत्यादिव्याससूत्रेषु यथा त्रिवृत्करणं पञ्चीकरणोपलक्षणम्। नचैवमर्थकदर्थने लक्षणाङ्गीकार इति यथाश्रुतार्थ एव करणीय इति वाच्यम्। यथाश्रुतार्थस्योपलक्षणत्वपक्षेऽप्यनादराभावात्। नहि त्रिपुरुषोर्ध्वपतितसावित्रीका न त्रिपुरुषपतितसावित्रीका यतस्ते सूत्रस्योद्दक्षरार्थकतामनालम्ब्य सूत्राक्षरैर्न ग्राहयिष्यन्ते। यदि च त्रिमात्रपुरुषपतितसावित्रीकाणामेव त्रिपुरुषपतितसावित्रीकपदेन ग्रहणमिति कथं त्रिपुरुषोर्ध्वपतितसावित्रीकसाधारण्येन त्रिपुरुषपतितसावित्रीकपुरुषपरिग्रह इति शङ्क्यते तदा त्रिपुरुषपदस्य त्रिमात्रपुरुषार्थकत्वे भवतैव साधु समर्थितो यथाश्रुतार्थकत्वपक्षः इत्युपहसनीय एव स्याः। मम तु शतिनोऽत्र सभायां प्रवेष्टव्या

इति संवित्संवेदनानन्तरं यथा तत्र सहस्रिणां लक्षिणां च सभाप्रवेशानुमोदनावगमस्तथाऽत्र त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामनुपनेयत्वे त्रिपुरुषोर्ध्वपतितसावित्रीकाणामप्यनुपनेयत्वमार्थिकमित्युदीच्य एव तत्र तादृशो बोधः स्वारसिक इति न तत्र लक्षणावलम्बनमपि विलम्बाय बोधस्य, नच व्यापकसंख्याव्यवहारविषये व्याप्यसंख्याव्यवहारस्यानुभवविरुद्धतया त्रिपुरुषोर्ध्व पतितसावित्रीकाः कथं त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाः, नहि लोके पञ्चपुत्रश्चैत्रस्त्रिपुत्र इति व्यवह्रियते। अत एव "अइउण्" इति सूत्रे भाष्ये "नहि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभते" इत्युक्तमत एवैकपुत्रं पुमांसमधिकृत्य धर्मशास्त्रेषु यन्निषिद्धं विहितं वा न तदनेकपुत्रके प्रवर्ततेऽन्यथा तु बहुपुत्रकस्याप्येकपुत्रत्वेन दुरवस्थैव धर्मशास्त्राणां प्रसज्येतेति वाच्यम्। नहि ब्रूमो वयं दश पञ्चेति व्यवहर्त्तव्याः पञ्च वा त्रय इति, दशपुरुषपतितसावित्रीका वा त्रिपुरुषपतितसावित्रीका इति, संख्याव्यवहारस्य पर्याप्तिसम्बन्धेनै-

वानुभविकतया पञ्चत्वदशत्वपर्याप्त्योस्त्र पर्याप्त्य-
नुयोगितावच्छेदकधर्मभेदेन भिन्नतया तत्र तथा
व्यवहारस्य प्रामाणिकैः शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् ।
किन्तु व्याप्यधर्मावच्छिन्नस्य व्यापकधर्मावच्छिन्न-
त्वनियमेन पृथिवीत्वावच्छिन्नस्य घटस्य द्रव्यत्वा-
वच्छिन्नत्वस्येव दशपुरुषपतितसाविचीकाणां चि-
पुरुषपतितसाविचीकत्वनियतत्वेन तेषामनुपने-
यतायाः “ त्रिपुरुषपतितसाविचीकाणामपत्ये
संस्कारो नाध्यापनं च” त्यनेन बोधनीयतया
व्रात्यस्तोमानुष्ठानेन चाधिकारितायाः सूत्राक्षरैः
सहजत एव लभ्यतया व्यापकसंख्याव्यवहारवि-
षये व्याप्यसंख्याव्यवहारानुभवविरोधोपन्यासस्य
निरुक्तयुक्तिमूलकपातञ्जलभाष्यविरोधसन्दर्शन-
स्य च सम्भावयितुमप्यशक्यत्वात् । यच्चैवं बहुपुत्र-
स्याप्येकपुत्रत्वेन एकपुत्रानुष्ठेयवर्ज्जनीयानुष्ठान-
प्रसञ्जनप्रदर्शनं न तद्विपश्चितां भयावहं तथा-
सति पुत्रवन्मात्रस्यैकपुत्रत्वेन पुत्रवतां सर्वेषाम-
पि तदनुष्ठानवर्जनयोरावश्यकत्वेन विशिष्यैक-
पुत्रमुद्दिश्य तथाभिधाननैरर्थक्यभीत्या तत्रैकमा-

त्रपुत्रवत एवाधिकारितायाः कल्पनीयतया ता-
दृशातिप्रसङ्गप्रदर्शनस्याकिञ्चित्करत्वात्। न च
प्रकृतेऽपि "बहुपुरुषपतितसावित्रीकाणा" मि-
त्यपहाय त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामित्युक्ति-
स्त्रिमात्रपुरुषपतितसावित्रीकाण मित्यर्थप्रसाध-
नक्षमेति शङ्क्यम् । कतिथं पुरुषमारभ्यानुपनी-
तत्वे भवत्यपत्येष्वनधिकार औपनायनिक इति
विश्वमतिवैश्वरूप्येण विशिष्यजिज्ञासमाने शिष्ये,
बहुत्वस्य त्रित्वचतुष्ट्वपञ्चत्वषट्त्वादिरूपयाः सं-
ख्यासामानाधिकरण्यसम्भवेन बहुपुरुषमित्यतः
कतिथं पुरुषमारभ्येति विशिष्यशिष्यजिज्ञासा-
प्रशान्त्यसंभवेन बहुपुरुषपतितसावित्रीकाणामि-
त्युक्तेः प्रकृते उत्तररूपतायाः संभावयितुमप्यश-
क्यत्वात्। अत्रायमर्थसङ्ग्रहः। आपस्तम्बीये 'यस्य
प्रपितामहादीति तृतीयपर्याये द्वादशवर्षब्रह्मच-
र्यप्रायश्चित्तमभिधाय उपनयनमुक्तं तत उदको-
पस्पर्शनानन्तरं गृह्यकर्मानुष्ठानौपयिकमन्त्रमा-
त्राध्यापनमुक्तं न तु कृत्स्नवेदाध्यापनं, कात्या-
यनेन तु त्रिपुरुषमारभ्यासंस्कृतानामपत्येषु अ-

संस्कारानध्यापने उक्ते, आत्मसंस्चिकीर्षायां तु स-
र्वैनोऽपकर्षकस्तावद्व्रात्यस्तोमोऽभिहितः, ततश्च,
चतुर्थपित्र्यादौ कात्यायनापस्तम्बयोरुभयोरप्यसं-
स्कार्यताऽनुपनेयता चाभिमता, अयं पुनर्विशेषो
यदापस्तम्बेन द्वादशवर्षब्रह्मचर्यप्रायश्चित्तमुक्तं
तच्च सर्वैनोऽपकर्षकव्रात्यस्तोममपेक्ष्यापकृष्टमि-
ति तदनुष्ठानेन माणवकस्य गृह्यमन्त्रमात्राध्य-
यनाधिकारसंपत्तिर्न तु कृत्स्नवेदाध्ययनाधि-
कारावाप्तिः। व्रात्यस्तोमस्य तु साक्षादपौरुषेय-
वेदवाक्यसमादिष्टस्याशेषपातकोपशमहेतुत्वमि-
ति तदनुष्ठानात् सर्वैनः प्रक्षालनेन सर्वाधिकार-
सिद्धिरित्यञ्जसैवैकश्रुतिमूलकत्वरूपैकवाक्यत्वसं-
गतिरापस्तम्बीयकातीययोरिति न कश्चिद्दोषः।
मच्छिष्यास्तु पुनरापस्तम्बीयद्वादशवर्षब्रह्मचर्य-
प्रायश्चित्तस्यापि द्वादशवार्षिकोदकस्पर्शसहितस्य
सर्वाधिकारहेतुत्वमल्पकालिकोदकस्पर्शसहितस्य
तस्य तु न कात्स्न्र्येन वेदाध्ययनाधिकारप्रयोज-
कत्वमित्याचक्षते, उचितश्चायमपि पक्षः 'लघुनि
लघु गुरुणि गुरु' इत्यार्षन्यायेन पापस्य गौरवे

प्रायश्चित्तगौरवस्यादिष्टतया गुरुप्रायश्चित्तानुष्ठानेन गुरुपातकक्षालनसंभवादिति सुधियः समासादितब्रह्मसंपत्तयः स्वयमालोचयन्तु । यत्तु । (१) कश्चिद्द्विजसंस्कारविलोपलोलुपः । "अथानेकपुरुषपतितसाविचीकविषये आपस्तम्बेन निषिद्धस्योपनयनस्य प्रतिप्रसवं वदन् कियत्पर्यन्तं संस्कार्यतेत्याकाङ्क्षायां नियममाह त्रिपुरुषपतितसाविचीकाणामपत्येऽसंस्कारो नाध्यापनं च 'त्रिपुरुषमिति' संख्या वंश्येनेत्यव्ययीभावः पतितसाविचीकाणां वंश्यानां चयाणां पुरुषाणां यदपत्यं चतुर्थं तत्र संस्कार उपनयनं भवति अध्यापनं तु नेति तदर्थः, चस्त्वर्थे, तदधिकपतितसाविचीकस्य तु न तदाह हरिहरः 'प्रपितामह स्य पितरमारभ्य चतुर्णां पतितसाविचीकाणामपत्ये तु न संस्कारः पूर्वनिषेधादिति, 'यस्य प्रपितामहादीति प्रक्रम्य उपनयनं नाध्याप्यइत्यापस्तम्बोक्तेरस्यायमेवार्थ उचितः । इति, प्रललाप तदेतद-

(१) आधुनिकवैयाकरणपाक्यशिखरपरिभाषेन्दुशेखरादिकर्त्तारः ॥

नासादितब्रह्मसंपत्तिकेभ्योऽनाश्रितगुरुकुलश्रमे-भ्योऽपरिशीलितशास्त्रसारेभ्य एव रोचतां यत आपस्तम्बेनानेकपुरुषपतितसाविचीकविषये क-ण्ठतो नोपनयनं न्यषिधीति कथं प्रतिप्रसवं वद-न्निति तदभिधानं युज्यताम् । 'यस्य प्रपिताम-हादीति सूत्रे तथाऽनुक्तेः, यदि च "तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरे-दित्यभिधाय "अथोपनयन" मित्युक्त्या स्वतः-सिद्धानेकपुरुषसाविच्यतिपातवतां पुंसामपत्ये-ष्वनधिकारः सिध्यतीत्युच्यते तर्हि तावताऽपि "अथोपनयनमिति सूत्रं न निषेधकमुपनयनस्य, प्रत्युतानेकपुरुषपतितसाविचीकविषये संस्कार-विधायकमिति कथम् "अनेकपुरुषपतितसावि-चीकविषये आपस्तम्बेन निषिद्धस्योपनयनस्य प्रतिप्रसवं वदन्निति नागेशोक्तिः संगच्छतां यदि पुनः "तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च-र्जयेदिति सूत्रेण पतितसाविचीकाणां गमन-भोजनादेर्निषिद्धत्वे तदीयोपनयनस्य स्वतो नि-षेधसिद्धिरित्युच्यते तदापि कात्यायनेन व्रात्य-

स्तोमानुष्ठानतो यथाधिकारिता दर्शिता तथा-
पस्तम्बेनापि द्वादशवर्षब्रह्मचर्यानुष्ठानेनोपनय-
नाधिकारी दर्शित इति कस्य कः प्रतिप्रसवो व-
क्तव्यः स्यात्, यदि हि यत्रापस्तम्बेनोपनयनसं-
स्कारो निषिद्धस्तत्रैव कात्यायनेनोपनयनं विधी-
येत निषेधो वा निषेध्येत तदा प्रतिप्रसवसंभव-
इह तु यत्रापस्तम्बेनोपनयनसंस्कारो विधीयते
तत्र कात्यायनेनापि, एतावानेव विशेषो यदेकेन
द्वादशवर्षब्रह्मचर्यप्रायश्चित्तं यत्रोक्तं तत्रापरेण
व्रात्यस्तोमो विधीयते व्रात्यस्तोमद्वादशवर्षब्रह्म-
चर्ययोर्द्वयोरप्यननुष्ठाने तु व्रात्यानां संस्कारो
द्वयोरप्यननुमत इति कथं प्रतिप्रसोतव्यप्रति-
प्रसवभावाभिधानं संगच्छतामिति कृतधिय एव
विदां कुर्वन्तु। कियत्पर्यन्तं संस्कार्यतेत्याकाङ्क्षाया
नियमरूपता तु त्रिपुरुषमित्यस्य यथा न सम्भ-
वति तथार्वागेव व्यवातिष्ठिपामेति तत एवानु-
सन्धेयम्। किं च विधिरूपत्वसंभवे आर्षवचसां
नियमार्थत्वकल्पनमपि कदर्थनमेवेति नापरोक्षं
जैमिनीयश्रमजुषां विदुषामिति। यदपि वाच

सूत्रे नागेशेन पतितसावित्रीकाणां यदपत्यं चतुर्थं तत्र संस्कारउपनयनं भवति अध्यापनं तु नेति तदर्थः, चस्त्वर्थे इत्येवमुक्तं तदपि पूर्वापरशास्त्रतात्पर्यानवबोधनिबन्धनमेव नह्यत्र पतितसावित्रीकापत्यसंस्कारतात्पर्यकता सूत्रस्य वक्तुं शक्या पतितसावित्रीकापत्यसंस्कारप्रयोजकशीर्षण्यायाः संश्चिकीर्षायाः "तेषां संस्कारेप्सुः" इत्यनेनाग्रे विवक्षणीयतया ततः पूर्वं पतितसावित्रीकापत्यसंस्काराभिधानतात्पर्यकत्वकल्पनायाः सन्दर्भशुद्धिविरुद्धत्वात्। यदपि तेनैव "तदधिकपतितसावित्रीकस्य तु ने" त्यभिधाय स्वोक्तार्थे "तदाह—हरिहरः "प्रपितामहस्य पितरमारभ्य चतुर्णां पतितसावित्रीकाणामपत्ये तु न संस्कारः पूर्वनिषेधादिति" हरिहरोक्तार्थोपष्टम्भदानं तदपि पुनरन्धस्यान्धदर्शितदिशा कूपपतनोद्यमनायितं यतो "नैनानुपनयेयुर्न याजयेयुरित्यादिना पूर्वसूत्रेण त्रिपुरुषोर्द्धपतितसावित्रीकाणामुपनयननिषेधसिद्धावपि दोषविशेषप्रचिख्यापयिषया पुनरपि निषेधस्या-

पेक्षणीयत्वादन्यथा तु नैनानुपनयेयुरित्यनेनैव उपनयननियतयाजनाध्यापनादेरपि निषेध-संभवे तेषामपि पृथगुत्कीर्तनस्य वैयर्थ्यापातात्। यदपि तेनैवर्षिवचश्चमत्कृतिन्यक्कृतदृग्व्यापारेण "यस्य प्रपितामहादीति प्रक्रम्य उपनयनं नाध्याप्य इत्यापस्तम्बोक्तेरस्यायमेवार्थ उचितः" इति स्वोक्तेरौचितीसन्दर्शनं तदपि हासास्पदं नहि प्रलीनपित्तस्य जरसा जीर्णेन्द्रियजालस्य पञ्जरास्थिशेषशरीरस्य दशमीमापन्नस्य गव्यपयः पचनशक्तेर्माषा न जीर्यन्त इति समुद्दीप्तपित्तानलसमुत्पादिताशनायोदन्यासमुत्सारणावरुद्धाशेषव्यापारस्योनषोडशवार्षिकस्य यूनोऽपि ते दुष्पचा इति मतिमतोत्प्रेक्षणीयमपि। आपस्तम्बोक्तस्य द्वादशवर्षब्रह्मचर्यप्रायश्चित्तस्याल्पकालिकोदकस्पर्शसचिवस्याल्पपापापकर्षकस्योपनयनमात्राधिकारकारकत्वेन सर्ववेदाध्ययनाधिकारिताप्रयोजकत्वासंभवेऽपि बलवतो व्रात्यस्तोमस्य "अत ऊर्द्ध्वं पतन्त्ये ते सर्वधर्मबहिष्कृताः। सावित्री पतिता व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतो" रित्यादि-

स्मृतिभिस्तांड्यब्राह्मणेन च सर्वपापापकर्षकतायाः प्रमापणेन तस्य तथाभावो दुस्त्यजएव नहि कुम्भीधान्यश्चेदुर्दरो भुङ्क्ते तर्हि ग्रामाध्यक्षेणाप्युर्दरेण भवितव्यं, नह्येकपदा न गंस्यतइति भीतो द्विपादपि न गच्छेत् । ततश्चाल्पप्रभावेणापस्तम्बोक्तद्वादशवर्षब्रह्मचर्येण चेदध्ययनमात्राधिकारित्वं संपादितं तर्हि बलवत्तमेन व्रात्यस्तोमेनापि तावन्मात्राधिकारितैव संपादनीयेति किं राजाज्ञास्ति ? । व्रात्यस्तोमद्वादशवर्षब्रह्मचर्ययोरप्यननुष्ठाने तु यथोपनयनमात्रस्यापि नाधिकारिता तथार्वागेवोपपादयमिति सत्यसन्धा एवानुसन्दधतु कीदृशीयं नागेशस्यौचिती सन्दर्शना स्वव्यवस्थास्विति । यदपि "यत्तु कात्यायनगृह्यसूत्रव्याख्याता गदाधरेण तेषामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च नेत्येवमेतत्सूत्रं व्याख्यातं, हरिहरस्तु मृग्यं इति चोक्तं तदनेन परास्तं पूर्वनिषेधेनैव सिद्धेश्च सच बहुदोषश्रवणाद्बहुपुरुषं पतितसावित्रीकविषयोऽपि संस्काराभावे अध्यापनाप्रसक्त्या नाध्यापनमि-

त्यस्य वैयर्थ्यापत्तेश्चेति” नागेशस्तदपि तस्य शास्त्रार्थानवबोधनिबन्धनमेव तद्यथा तदनेन यदपास्तमित्यस्य “उपनयनं नाध्याप्य इत्यापस्तम्बवाक्यैकवाक्यत्वेनेत्यर्थो वक्तव्यः स चास्माभिः पूर्वमेव बहुधा निराकृतः कात्यायनापस्तम्बोक्तप्रायश्चित्तयोर्गुरुलघुभावेन तत्फलयोः साम्यसंकीर्तनायाः शास्त्रतात्पर्यावबोधिना व्याहर्त्तुमप्यशक्यत्वात्ततश्चापस्तम्बीयस्य लघुनः प्रायश्चित्तस्योपनयनमात्राधिकारिताप्रयोजकत्वेऽपि गुरुणः कातीयप्रायश्चित्तस्योपनयनकरणवेदाध्ययनोभयाधिकारिताप्रयोजकत्वं युक्तमेवेत्यापस्तम्बवाक्यैकवाक्यताकदर्थनया कात्यायनसूत्रार्थकथनं कथं चिदपि बुद्धिमतां विचारपथं नाधिरोहतीत्यतितिरोहितमेव । किं च कात्यायनेन “त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं च”त्यनेन संस्काराध्यापनोभयानधिकारितामुपदर्श्य संस्कारेप्सासत्त्वे “तेषां संस्कारेप्सुरित्यादिना व्रात्यस्तोमप्रायश्चित्तमुक्तम् । आपस्तम्बेन तु यस्य प्रपितामहादीति सूत्रे “ते-

षामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदथोपनयनं तत उदकोपस्पर्शनं पावमान्यादिभिः, अथ गृहमेधोपदेशनं नाध्यापनमित्युक्तमिति कथमापस्तम्बानुरोधेन कातीये 'संस्कारस्तु भवति न पुनरध्यापन' मित्ययमर्थो वक्तव्यः स्यात् कात्यायनो हि प्रथमतोऽनधिकारितामभिधाय प्रायश्चित्तमभिधत्ते, आपस्तम्बस्तु द्वादशवर्षप्रायश्चित्तमुदकोपस्पर्शनं चाभिधाय तस्य गृह्यमन्त्रमात्राध्ययनौपयिकतामाहेत्यकृतप्रायश्चित्तकृतप्रायश्चित्तयोः कथं समानाधिकार इत्यापस्तम्बानुरोधेन कातीयार्थकथनं कथं चिदपि न संभाव्यते, यद्यकृतप्रायश्चित्तावस्थायामुभाभ्यामधिकारिता निर्णीयेत, कृतप्रायश्चित्तावस्थायां वा तदैकवाक्यतोद्यमः संभावितफलः स्यादिह तु कात्यायनः प्रायश्चित्ताननुष्ठानदशायामनधिकारित्वं संस्काराध्ययनयोर्ब्रूते । आपस्तम्बस्तु प्रायश्चित्तानुष्ठानदशायां संस्काराधिकारितामध्ययनानधिकारितां चाचष्ट इति कीदृशीयमेकवाक्यता निदर्शना नागेशस्येति कृत-

धियएव विभावयन्तु । यदि च त्रिपुरुषपतितसा-
वित्रीकाणां, संस्कारः - आपस्तम्बोक्तप्रायश्चि-
त्तेनोपनयनसंस्कारः । नाध्यापनं च अध्यापनं तु
व्रात्यस्तोमानुष्ठानं विना न भवतीत्येवमर्थोप-
वर्णनेन भवत्यापस्तम्बकात्यायनवाक्यैकवाक्यता
"तेषां संस्कारेप्सु" रित्यत्र च संस्कारपदेनोप-
नयनाख्यसंस्कारविशेष एव गृह्यते, तथा च वेदा-
नधिजिगांसुर्व्रात्यस्तोममनुतिष्ठेदनधिजिगांसुस्तु
केवलमात्मानमुपनिनीषुर्द्वादशवार्षिकब्रह्मचर्य-
मापस्तम्बोक्तं कुर्यात् । युक्तश्चायमर्थोऽग्रे "का-
ममधीयीर" न्निति सूत्रकृताऽध्ययनमात्राधिका-
रितया एवोक्तत्वादितरथा तु काममुपनयेरन्नि-
त्यप्युक्तं स्यादित्युच्यते तदापीदं दुर्मेधसो दुर्म-
नीषितमेव, संस्कारेप्सुपदस्याध्ययनाख्यसंस्कार-
विशेषविषयकेच्छावत्परतायाः संस्कारपदस्य चा-
पस्तम्बोक्तप्रायश्चित्तेनोपनयनपरतायाः, चकारस्य
सूत्रस्थस्य च त्वर्थकतायाः "संस्कारो नाध्यापनं
चे" त्युभयत्रान्वयबुबोधयिषया मध्याध्यासितस्य
नञोऽध्यापनं नेति योजनायाश्च कष्टकल्पनीय-

त्वेन यथाश्रुतार्थस्यैवादरणीयत्वात्। न च तथापि व्रात्यस्तोमो नोपनयनाधिकृतयेऽलं तस्याध्ययनमात्राधिकारिताप्रयोजकतया उपनयनेऽकिञ्चित्करत्वेनापस्तम्बोक्तद्वादशवार्षिकप्रायश्चित्तस्यावश्यकतयोक्तार्थोपवर्णनं युक्तमेव नहि महाव्याहृतिमन्त्रो बलवानिति तस्यान्नप्राशने विवाहे वा विनियोगसम्भवः, इतिवाच्यम् "काममधीयीरन्निति सूत्रे उपनयनोत्तरकालिकाध्ययनार्हताबोधनेनोपनयनार्हताया अपि तत एव सुकल्पत्वेनान्तरापस्तम्बोक्तप्रायश्चित्तानुष्ठानकल्पनायाः सुदूरपराहतत्वात्, अत एव त्वशेषपापापसरणौपयिकपर्याप्तिप्रदर्शनाय "काममित्यध्ययनपूर्वकयजनयाजनादिसामर्थ्यसंकीर्त्तनं, तदपि च न व्रात्यस्तोमानुष्ठानजमस्तोमसामर्थ्यमामुष्मिकमेव, परमैहिकामुष्मिकसाधारणमिति बोधनाय "व्यवहार्या भवन्तीति ततश्च तैर्याजनयौनादिव्यवहारः सर्वोऽप्यप्रतिबद्ध इति भावः। पूर्वनिषेधेनैव सिद्धेश्चेत्येतस्य त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामपि कालातिपातपतितसावित्रीकत्वेन "नैना-

नुपनयेयु" रिति निषेधेनैवोपनयननिषेधलिङ्गा संस्कारो नेति वाक्येन पुनर्निषेधनमयुक्तमित्य-यमर्थो वक्तव्यस्तथा—चेदमभिधानं नागेशस्य "आत्मनो विल्वमाचार्णीत्येतदाभाणकोदाहरणतामाहरति—किं, त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणामपत्ये संस्कारो नाध्यापनं चेत्यस्य संस्कारस्तु त्रिपुरुषपतितसावित्रीकाणां भवत्वध्यापनं तु नेत्येवं भवदभिमतार्थोपवर्णने नाध्यापनमित्यस्य वैयर्थ्यं नास्ति? किंच नाध्यापयेयुरित्यनेन पूर्वमध्यापनस्यापि निषेधेन पुनर्निषेधनमध्यापनस्याप्ययुक्तमेव यदि च दोषविशेषख्यापनार्थं पूर्वं निषिद्धमप्यध्यापनं पुनर्निषिध्यत इत्युच्यते तर्हि पूर्वं "नैनानुपनयेयु" रित्युपनयनस्य निषधेऽपि "संस्कारो न" इत्ययं निषेधो दोषविशेषसंकीर्तनायेत मयापि वक्तव्यमिति किं पाणिपिहितम् ? यदि पुनः, संस्कारे जाते अध्यापनं प्रसक्तमिति मन्यते 'नाध्यापन' मित्ययं निषेधो युज्यते तव तु संस्कारस्यापि निषेधे सुतरामध्यापननिषेध इति पृथगध्यापननिषेधोऽप्रसक्तप्रतिषेध एवेत्युच्यते

तदा सावित्र्यतिपातवतः पुरुषानुद्दिश्य पूर्वं "नै-
नानुपनयेयुर्नाध्यापयेयुर्न व्यवहरेयुरिति" सूत्रे
कस्य हेतोरुपनयनं प्रतिषेध्य, नाध्यापयेयुरित्य-
ध्यापनाप्रतिषेधो, भवदुक्तरीत्या तु तत्राप्युपनय-
नाभावे उपनयनद्वारकमध्यापनं कैमुतिकप्रति-
षिद्धमिति पृथगध्यापननिषेधोऽसमञ्जस एव स्या-
दिति यदेव चाणं तत्र भवतस्तदेवेह ममाप्यवेहि।
यदि तु केन चिदर्थपरायणेन उपनयने कारिते-
ऽपि पुनरध्यापनमप्यनर्थकरमिति बोधयितुं "नो-
पनयेयुरित्यभिधाय, नाध्यापयेयुरित्युक्तमित्यु-
च्यते तर्हि प्रकृतेऽपि यथा पतितसावित्रीकाणां
संस्कारोऽनिष्टसाधनं तथा तेषामध्यापनमिति
बोधयितुं संस्काराध्यापनयोरुभयोरपि प्रतिषेध-
स्तयोः साम्येनानिष्टसाधनत्वसंकीर्तनायेत्यवधा-
रय, इतरथा तु कस्य चिदर्थलोलुपस्य व्रात्यसं-
स्कारमात्रमधिकानिष्टसाधनं प्रतिपद्यमानस्य,
भवेदपि व्रात्याध्यापने प्रवृत्तिरुभयोरनिष्टसाध-
नतां समां तु प्रतिपद्यमानो नोभयत्र प्रवर्त्स्यती-
त्यमुमेव प्रत्यवायसाम्यरूपमर्थमवगमयितुं 'सं-

स्कारो नाध्यापनं चेति' चकारोपादानमिति चतु-
रस्रमतयश्चतुराः स्वयमुक्तदिशा दूषणान्यूहन्ता-
म्। यदपि स एव "नच चतुरादिपुरुषपर्यन्तंप-
तितसावित्रीकाणामपत्ये त्रिपुरुषपतितसावित्री-
काणामपत्यत्वमस्तीति वाच्यं, व्यापकसंख्याव्य-
वहारविषये व्याप्यसंख्याव्यवहाराभावात् अत
एव "नहि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभत इत्य-
इउण् सूत्रे भाष्ये उक्तमन्यथा बहुपुरुषमित्येव
वदेत्" इत्यतिव्यस्तं प्रललाप तदत्यन्तमनुपा-
देयम्। तद्यथा न ब्रूमो दश पञ्चेति पञ्च वा
चत्वार इति व्यवहरणीयाः किन्तु दशापत्यस्य
पञ्चापत्यानि न वर्त्तन्त इत्यव्यवहाराद्व्यापक-
धर्मावच्छिन्नस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वनियमादिह
चिपुरुषाधिकपतितसावित्रीकाणामप्युपग्रहसंभवा-
दिदमकिञ्चिदित्यवोचाम पूर्वमत एव भाष्यका-
रोऽपि "व्यापकसंख्याव्यवहारविषये व्याप्यसंख्या-
व्यवहाराभावादित्येवाभिधत्ते इतरथा तु व्या-
पकसंख्यावति व्याप्यसंख्याविरहादित्येवाभ्यधास्य-
दिति व्यापकधर्मावच्छिन्नस्य व्याप्यधर्मावच्छिन्न-

त्वनियतत्वेन न कश्चिदिह दोषगन्धः। अत एव महाभाष्यकृता 'नहि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यपदेशं लभत इत्युक्तं न तु त्रिपुत्रस्य द्वौ पुत्रौ न वर्त्तेते इति। यच्चोपष्टम्भकतयोपन्यस्तम्, "अन्यथा बहुपुरुषमित्येव वदेत्" इति तदेतदविचारसारं 'कतिथं पुरुषमारभ्य पतितसावित्रीकत्वव्यवहारोऽनध्यापनं चेत्येवं शिष्यजिज्ञासायां "बहुपुरुषमित्यस्योत्तरभावासम्भवादिति न्यरूपयाम पूर्वमित्यलं पल्लवितेन। यदप्येष एव धर्मशास्त्रोन्मार्गगः। "एवं चैतदेकवाक्यतया यस्य प्रपितामहादीत्यापस्तम्बस्मृतिरपि त्रिपुरुषपतितसावित्रीकविषयैव किञ्च यद्वंशे नोपनयनं स्मर्यते इत्येव सिद्धे यस्य प्रपितामहादीति विशिष्योक्तिर्निष्फला। अत एव धर्मशास्त्रैस्तु विहितमिति वाक्ये हरदत्तेन तु नाऽरुचिर्बोधिता तद्बीजं तूक्तमेव स्मृत्योरेकमूलकल्पनालाघवानुरोधेनैकार्थ्यं सम्भवति भिन्नार्थत्वमन्याय्यमिति सर्वधर्मशास्त्रनिबन्धकृतां सिद्धान्तात्"। इति व्याहतमाह तदत्यन्तनिस्सारं तथाहि त्रिपुरुषं पतितसावि-

त्रीकाणामिति कातीयस्मृतेः त्रिमात्रपुरुषपतित-
सावित्रीकार्थकतायाः पूर्वं बहुधा निराकरणेन
तदैकवाक्यतयोक्तापस्तम्बस्मृतेः कथं त्रिपुरुषं
पतितसावित्रीकविषयत्वं समर्थितं स्यात्। किं-
च यदि आपस्तम्बस्मृतिस्त्रिपुरुषं पतितसा-
वित्रीकविषयैव तदा "यस्य त्रिपुरुषं नानुस्मर्यंत
उपनयनमित्येवासूत्रयिष्यदृषिः किमिति 'यस्य
प्रपितामहादि नानुस्मर्यंत इत्यसूत्रयिष्यदिति
तवैव तथा सति दुष्परिहरं चोद्यमापद्येत अ-
त्रत्यविशेषं त्वापस्तम्बसूत्रार्थकथनेऽचकथमिति
तत एवानुसन्धेयम्। यत्त्वापस्तम्बस्य त्रिपुरुषाधिक-
पतितसावित्रीकविषयत्वे 'यद्वंशे नोपयनमित्येव
सिद्धे 'यस्य प्रपितामहादीति विशिष्योक्तिर्नि-
ष्फलेति तदेतदप्यमन्दमान्द्यनिबन्धनमेव वंश-
पदार्थतायाः स्वपितृभ्रातृस्वप्रपितामहभ्रात्रादि-
रूपानेक बहुशाखप्रशाखपुरुषसन्ततिसाधारण्येन
जन्मविद्योभयसाधारण्येन चातिप्रसञ्जकतया त-
थावक्तुमशक्यत्वात्। नहि वंशपदार्थः स्वजनक-
तज्जनकजनकादिपुरुषनियतएव स्वाजनकेषु स्वी-

यप्रपितामहादिष्वाचादिष्वपि स्ववंशपदार्थताया लोकशास्त्रोभयसिद्धतया स्वजनकसंप्रदायनैय-त्यस्य वंशपदार्थे प्रवेशासम्भवेन "यद्वंशे नोपन-यन" मित्यनुक्तेरापस्तम्बीये त्रिपुरुषपतितसा-वित्रीकत्वार्थकत्वप्रसाधकत्वायोगात्। "अत एव धर्मशास्त्रैस्तु विहितमिति वाक्ये हरदत्तेन तु-नाऽरुचिर्बोधिता" इति यदभिहितं तदपि विप-श्चितां चमत्कारकारकं हरदत्तेन हि प्रकृताप-स्तम्बधर्मसूत्रं व्याख्याय शेषे "यस्य तु प्रपितामह-स्य पितुरारभ्य नानुस्मर्यत उपनयनं तत्र प्राय-श्चित्तं नोक्तं धर्मज्ञैस्तु विधातव्यमेवं ततः पूर्वेष्व-पि" इत्युक्तं तस्यायमर्थः — त्रिपुरुषोर्द्धपतितसावि-त्रीकाणां प्रायश्चित्तं यद्यपि आपस्तम्बर्षिणा कण्ठ-तो नोक्तं तथापि धर्मज्ञैः — धर्मशास्त्रार्थतत्वज्ञैः स्वयमूहित्वा उपदेष्टव्यमनादिष्टप्रायश्चित्तस्थले प्रायश्चित्तोहनस्य याज्ञवल्क्यादिभिरुक्तत्वात्। एवं ततः पूर्वेष्वपि प्रपितामहपितृपूर्वजेषु संस्कारा-श्रवणेऽपि यावत्पर्यन्तं गोत्राद्यनुस्मृतिर्द्विजत्वव्या-प्यक्षत्रियत्ववैश्यत्वादिधर्मज्ञानं चाबाधं तावत्सं-

स्कारः प्रायश्चित्तमुपकल्प्यानुष्ठापयितव्यः । इ-
त्ययं हरदत्तपङ्क्त्यर्थः पङ्क्तिपाठोऽपि च न ना-
गेशोक्तरीत्या प्राचीनतमपुस्तकेष्वपि तथानुपल-
म्भात् परन्तूपवर्णितरीत्येति विद्वांस एव श्रद्धा-
जाड्यमलभमाना निरीक्षन्तां कीदृशीयं "हरद-
त्तेन तुनाऽरुचिर्बोधितेति नागेशोक्तिरिति शम् ।
यदपि स एव तद्बीजं तूक्तमेव स्मृत्योरेकमूलक-
ल्पनालाघवानुरोधेनैकार्थ्ये सम्भवति भिन्नार्थत्व-
मन्याय्यमिति सर्वधर्मशास्त्रनिबन्धकृतां सिद्धा-
न्तात्" इत्युपन्यास्थत्तदपि परमते एकवाक्यता-
विरहमेवावेदयति तत्किमस्माकमैकार्थ्यं नास्ति
यथा च नागेशमते आर्षवचः कदर्थनं तथा तत्र
तत्रोपपादितमिति द्रष्टव्यम् । 'त्रिपुरुषपतितसा-
वित्रीकाणामित्यस्य त्रिमात्रपुरुषपतितसावित्री-
काणामित्याद्यर्थोपवर्णनं तु भ्रममूलमेव "देशं
कालं वयः शक्तिं पापं चापेक्ष्य यत्नतः । प्राय-
श्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृति"रित्या-
दिना याज्ञवल्क्येन देशकालवयोनिरीक्षणेन प्रा-
यश्चित्तोहनस्य स्पष्टमुक्ततया ऋषिवाक्यतः प्राय-

श्चित्तालाभेऽपि तत्कल्पनाया अनुमतत्वात् । न चैवं प्रायश्चित्तप्रकल्पने पुरुषसंख्यायाश्चानियमे भूतपूर्वक्षत्त्रिया आधुनिकम्लेच्छाः पारसीकदेश-निवास्तव्या हलमन्द्रदेशवास्तव्याः चीनाः खसा-श्चापि भवतोऽनुमताः संस्कार्यत्वेनेति साधुसंर-क्षितो धर्मो वैदिकः पुण्यपूरुषेण भवतेत्युपाल-म्भनीयमज्ञानतः, त्रैवर्णिकस्य सतः संस्कार्यस्य गुरुगोत्रादिसम्बन्धानुवृत्तेः, पुरोहिताचार्यर्त्वि-गुपाध्यायादिलक्षणब्राह्मणसम्बन्धानुवृत्तेः कथं चिदपि यजनयाजनप्रतिग्रहादिलक्षणव्यवहा-रसम्पत्तेश्च म्लेच्छपतितादिव्यावृत्तायाः शू-द्रव्यावृत्तायाश्च संस्कारकारणताया आङ्गना-गोपालबालमानुभविकतया विधेयवैवैधेयाना-मेवैतादृशशङ्कासमुल्लासप्रसरात् । यद्यपि शूद्रा अपि काश्यपगोत्रा इति लौकिकी शास्त्री-या च प्रसिद्धिस्तथापि न ते द्विजा इति न तेषां संस्कारप्रसङ्गः । न च भवदभिमतानां क्षत्त्रियवैश्यानां द्विजत्वमेव मम नाभिमत-मिति सर्वमेतद् व्याकुलो स्यादिति जघन्य-

तमं शङ्कनीयम् । तथा सति सार्वजनीनव्यवहारमार्गमवगूरयतस्तवैव द्विजत्वाभिद्धौ सर्वव्यवहारविलयापत्तेः । किञ्च यदि क्षत्रिया वैश्याश्च न सन्ति तर्हि कलौ तेषामनुपनेयताप्रसाधनाय प्रमाणपारायणमपि तवानर्थकमेव त्रिपुरुषोर्द्ध्वपतितसावित्रीकक्षत्रियादीनां कलौ संस्कार्यत्वनिराचिकीर्षया आपस्तम्बवचसोऽर्थकदर्थनं मया सह शास्त्रार्थे प्रवृत्तिश्चैतत्सर्वं कूर्मरोमायितमेव स्यात् नहि आवयोर्विचारप्रवृत्तिः कलौ क्षत्रिया वैश्याः श्च न सन्तीत्युपगम्य किन्तु सन्तोऽपि ते विच्छिन्नसंस्क्रियाः संस्कार्या न वेत्युपक्रम्येति प्रकृते सर्वथाऽनीश्वरो भवांस्तेषामसत्त्वसमर्थने, यदि च सर्वथा क्षत्रियादीनामसत्वं कलावभ्युपेत्य ब्रूषे तर्हि कथान्तरमिदमित्यग्रे निराकरिष्यामः । अस्ति चायमर्थो भगवतोमनोरनुमतस्तथा हि १० अ० । शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणा दर्शनेन च ४३। पूर्वं यथावदुपनयनादिसंस्कारव-

न्तोऽपि क्षत्रियादयः 'शनकैः' अत्यन्तं शनैः क्रियालोपादेकैकसंस्कारविलोपादिक्रमेण च्युतसंस्काराः । तत्रापि च वेदविदां ब्राह्मणानां याजनाध्यापनप्रायश्चित्तादिरूपशोधकव्यापाराप्रवृत्तौ वृषलत्वं पातित्यं गताः 'इमाः' वक्ष्यमाणाः क्षत्रियजातयः 'पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः' इत्यादिना, क्षत्रियपदं (१) चात्रोपलक्षणं ब्राह्मणवैश्ययोरपि ततश्च भूमिलोभादिनार्य्यदेशं परित्यज्याङ्गीकृतप्रत्यन्तवासप्रयासानामत्यन्तगर्हिताचाराणामभक्ष्यभक्षणादिजुषां सर्वेषामप्यमीषां त्रैवर्णिकानां चिरमनासादिततत्प्रतिकृतीनां सर्वथापि त्रैवर्णिकत्वव्यवस्थापकलिङ्गविगमे पातित्यमभिहितमिति क्व नाममध्यदेशनिवासिषु क्षत्रियवैश्येषु जयपुर जम्बू रींमा बुन्दी भिनगादि नगराधिपेषु मध्यदेशनिवासिद्विजाग्र्यपादरजःक्षालनक्षालितसर्वकरणेषु दानावधीरितकर्णेषु स-

(१) युक्तं चैतदग्रे मनुनैव "मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः । म्लेच्छवाचश्चार्य्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः" इति प्रत्यन्तवासिनां सर्वेषामपि पातित्याम्नानात् ।

करणानां पातित्यशङ्काऽवकाशः, नहि मनोः कुरुक्षेत्राद्यार्यदेशनिवासिषु क्षत्रियवैश्यादिष्ववगूरणागन्धोऽपि अत एव तु अत्रैव प्रकरणेऽग्रे "मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः। म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः इति प्रत्यन्तवासप्रवासितस्वजातिसमयाचाराणां म्लेच्छसंसर्गिणामेव दस्युपदाभिधेयत्वमुक्तम्। "या लोके जातयो बहिरिति" एतेन एतैरेव मनुवचनैः कलौ ब्राह्मणशूद्रातिरिक्तवर्णाभावं प्रसाधयन्तोऽपाकृताः, पूर्वोक्तवचननिचयनिरीक्षणेन भूतपूर्वद्विजानामपि चीनखसपौण्ड्रकादीनां प्रत्यन्तवासिनां म्लेच्छसंसृष्टानामेव युगविशेषनैरपेक्ष्येण पातित्यावगमात्। तस्मात्पुरुषसंख्याविशेषानियमे भूतपूर्वक्षत्रियाणां हूलमन्द्रकेकयपारसीकादिदेशनिवासिनां संस्कार्यतामापाद्य परान् जुगुप्समाना निःक्षत्रवैश्यं साम्प्रतिकसमयमातिष्ठमानाः परं मन्दमतयएवेति विदुषां परामर्शः। किञ्चेमेऽनुरुध्येममर्थं प्रष्टव्याः। कस्य हेतोराधुनिकेषु क्षत्रियेषु वैश्येषु च भवतामकारणाद्वे-

षः । यदि च न द्विष्मः, परमेते व्रात्या इति न संस्करणीया इति ब्रूध्वे तर्हि व्रात्यतासमकक्ष-दोषदूषितेष्वपि तथैव व्यवहर्त्तव्यं धर्मध्वजैर्भव-द्भिः । यथाह मनुः । अ० ११ । श्लो० ६३ । व्रात्य-ताबान्धवत्यागो भृत्याध्यापनमेव च । भृत्याच्चा-ध्ययनादानमपण्यानां च विक्रयः । तथा च व्रा-त्यसहपठितेषु भृतकाध्यापकेषु भृतकाध्यापितेषु ब्राह्मणेषु वार्द्धुषिकेषु च कोऽयं भवतामात्मीय-ताग्रहो यदिमे, न द्विष्यन्ते, यदि च अभ्यस्यमान-तया गौरवङ्गता व्रात्यतेति महापातकिनाममी-षां नाम्नाप्यसमर्थ्येसंस्कारेणेति वदथ, तदाप्येते क्षचिया वंशक्रमागतभृतकाध्यापककुलानि ना-तिशेरतइत्यतोऽपि तत्समाना एव, यदि च 'यदि केन चित्कथंचिदपि कुक्कुटाण्डमश्नता सहासना-शनादिकं क्रियते तर्हि तेनावश्यं लशुनाशिना स-हाशितव्यमासितव्यंचेति नाग्रहो युक्तः। कुक्कुटाण्ड-लशुनाशिनोरेकवाक्यस्थसमपातकप्रालिनोरुभ-योरेवोपग्रहमपेक्ष्यैकोपग्रहस्याल्पपापहेतुतायाः स-र्वास्ति कसम्मततया भृतकाध्यापकैर्लोकलज्जादि-

ना केनापि कारणेन व्यवहरन्तोऽपि नानुमन्यामहे व्रात्यसंस्कारमिति कोऽपराधोऽस्मदीयः। नहि कृष्णाष्टम्यान्नोपवासोऽनुष्ठित इति शिवराचिव्रतमप्युल्लङ्घनीयम्। नहि कश्चन म्लेच्छो वेदानध्यापित इति तेन यौनसम्बन्धेऽपि न भेतव्यमिति युक्त, मिति श्लिष्टतमसुच्यते, तदा व्रात्यसंस्कारस्यापस्तम्बाद्युक्तप्रायश्चित्तानुष्ठानानन्तरं वेदानुमततया नैते क्षत्रियाश्चीर्णप्रायश्चित्ताः कृतसंस्काराः अचीर्णप्रायश्चित्तैर्भृतकाध्यापकवार्द्धुषिकादिभिः सममुपमेया युक्तियुक्तार्थग्राहिणा भवतेति साञ्जलिबन्धमभ्यर्थयामहे, तस्मादेष केषांचिदमीषाममीमांसितधर्मशास्त्राणां जामदग्न्यंमन्यमनसां क्षत्रियकुलेष्वकुण्ठकुठारोद्यमः स्वीयप्रज्ञाकुण्ठाहेतुक एवेति शम्। योऽपि साभिमानम्। "अभ्युपेत्यापि ब्रूमः पूर्वे (२) इत्यत्र कपिञ्जलाधिकरणन्यायेन त्रयाणामेव ग्रहणापत्तौ स-

(२) सत्यसरस्वतीपुस्तकालयस्थनागेशग्रन्थे पूर्वे इति पाठोपलम्भेऽपि स पाठो लेखकप्रमादजः, वस्तुतस्तु पूर्वेषु इत्येव पाठो-युक्तः हरदत्तग्रन्थे तथैवोपलम्भात्।

त्तमस्योपनयनलाभेऽपि तदूर्द्ध्वस्याष्टमादेरुपनयने मानाभाव" इति मीमांसामांसलत्वप्रदर्शनायासः सोऽप्यसावस्थानसन्नाहः । नहि बाधकासमवधाने बहुवचनमात्रं प्रथमतस्त्रित्वसमानाधिकरणं बहुत्वमेवावगमयतीति नियतिस्तथासति गुरून्नावमानयेत्' 'परान्नोपेक्षेत' 'परस्वानि नापहरेत्' 'परदारान्नाभिमृषे' दित्यादिशास्त्रेषु त्रित्व-

(१) अत्रेदमाकूतं भिजामिति सूत्रे गणान्तताविवन्धनं त्रिग्रहणानर्थक्यमाशङ्कितं, तत्करणेन भिजामपरिच्छेदे हि त्रिग्रहणासत्त्वे बहुवचनमहिम्ना स्यात् त्र्यधिकग्रहणमिह तु तत्करणादेव त्रिग्रहणासत्त्वेऽपि, न त्र्यधिकपरिग्रह इति त्रिग्रहणमनर्थकमिति पतञ्जलिराशङ्क्य "भृजामित्" अत्र त्रिग्रहणासत्त्वे बहुवचनेन चतुरादीनां ग्रहणं मा प्रसाङ्क्षीदिति, तत्रानुषञ्जनेन तत्सार्थक्यमिति समादधौ एवं चेह कपिञ्जलन्यायाप्रवृत्तावपि त्रिग्रहणासत्त्वेऽपि न तदधिकपरिग्रहसंभावनेति त्रिग्रहणानर्थक्यमाशङ्कितवतः पतञ्जलेः प्रकृते कपिञ्जलन्यायप्रवृत्तिबीजभूतत्र्यधिकपरिग्रहप्रसञ्जनपूर्वकत्र्यधिकपरिग्रहबाधकोपलम्भो न विद्यत इति लाघवमुपजीव्य प्रवर्त्तमानस्याप्यमुष्य कपिञ्जलन्यायस्य त्र्यधिकपरिग्रहबाधकोपलम्भमुखनिरीक्षणसापेक्षस्य प्रकृते त्र्यधिकभृजादिपरिग्रहे लक्षणैकचक्षुष्काणामयोगिनां बाधकानवतारात् स्यात् त्र्यधिकानां ग्रहणमिति तद्व्युदासाय 'त्रयाणामिति' एतस्य सामान्यापेक्षज्ञापकतामवलम्ब्य च नागेशेन अस्मादेव ज्ञापका——

समानाधिकरणबहुत्वावच्छिन्नगुर्वाद्यवमाननाया बोधे जगद् व्यवहारोऽन्नवप्रसङ्गात्। अन्यथा पाणिने "त्रिंशां चयाणां गुण" इति सूत्रे (१) त्रयाणामित्यपार्थकमेव स्यादभिधानं 'त्रिंशामि' त्यभिधानस्य भवदभिमतशैल्या स्वरसत एव त्रयाणामेवावगमकत्वात्। यत्र तु बाधकसमवधानं तत्र चतुष्ट्वादिसमानाधिकरणबहुत्वमुपेक्ष्य त्रित्वसमनाधिकरणमेव तद्गृह्यते यथाऽश्वमेधप्रकरणे "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इति श्रुतौ श्रूयमाणस्य बहुवचनस्य द्वित्वाधिकसंख्यात्वस्वरूपबहुत्वसाम्यात्। त्रित्वचतुष्ट्वपञ्चत्वषट्त्वाद्यवच्छिन्नोपग्राहकत्वप्राप्तौ चीनपजहता चतुराद्युपादातुं न शक्यमित्यवर्जनीयोपादानानां त्रयाणामेवोपादानेन शास्त्रार्थस्यानुष्ठानसम्भवान्न तत्र चतुराद्युपा-

इह शास्त्रे कपिञ्जलन्यायो न प्रवर्तत इत्युक्तमव्ययशेखरे वस्तुतस्तु भूजामिति सूत्रे लक्षणैकचतुष्कानां त्र्यधिकबाधकानवतारात् त्र्यधिका मा ग्राहिषतेति निग्रहणस्य साफल्यात्कीदृशो तस्य ज्ञापकतेति सुधिय एव क्षमा विचारयितुम्। यत्र व्याकरणे तत्र तत्र कपिञ्जलन्यायानवतारः सोऽप्यसौ कपिञ्जलन्यायप्रवृत्तिबीजभूतबाधकावतारविरहनिबन्धन एवेति सूक्ष्मदृशो विभावयन्तु ।

दान,मधिकपक्षिहिंसायां प्रत्यवायात् । अत्र हि "न हिंस्यात्सर्वाभूतानि" इति श्रुतिः सर्वप्राणिहिंसां वर्जयन्ती विप्रकृता स्यात् अधिकपक्षिहिंसने, इति समुचितं अधिकपक्षिविशसनवर्जनम् । तथा चैष न्यायः प्रकृते नावतरितुमीष्टे, यस्य प्रपितामहादीति शास्त्रे आदिपदेन अधिकानामनुपनीतपूर्वपुरुषाणामुपादाने कपिञ्जलालम्भनस्थलइव बलवत्तरबाधकानुपलम्भात् । यत्र हि बलवत्तरबाधकावतारस्तत्रैव बहुवचनं चतुराद्युपादानाशक्यवर्जनानां प्राथमिकोपस्थितत्वात्मकलाघवोपनीतानां त्रयाणामेवोपग्राहकं, मतएव ब्राह्मणान्भोजयेदित्यादौ शास्त्रीयाधिकायासमासादनेन अधिकब्राह्मणभोजनेन भवत्यदृष्टातिशयोऽन्यथा तु चतुरादिभोजने विधिभ्रंश एव स्यात् । न चेह तथा, बाधकाऽनुपलम्भात् । न च 'नैनानुपनयेयुर्नाध्यापयेयु' रित्यादेर्निषेधस्य प्रकृतेऽपि विद्यमानत्वात् । 'यस्य प्रपितामहादीति' सूत्रस्थमादिपदं नाविघ्नप्रचारं सदुपग्राहकं अधिकानामिति, कपिञ्जलन्यायेन सङ्कोचः समुचित

इति वाच्यम् । (१) अचीर्णप्रायश्चित्तानामेव शास्त्रेषूपनयनादेर्निषिद्धतया कृतप्रायश्चित्तेषु सामान्यतश्चोद्यमाननिषेधदेशनाया वक्तुमशक्यत्वात् न च 'विधिस्पृष्टे दोषानवकाशन्यायेन विधिपरिचोदितकपिञ्जलहिंसने प्रत्यवायसंस्पर्शः कुतस्त्यः। अत एव तु "अशुद्धमिति चेन्न शब्दा" दिति भगवान् व्यासोऽपि तृतीयस्य प्रथमे पादे प्राह युक्तं चैतदन्यथा कपिञ्जलालम्भनस्य प्रत्यवायहेतुत्वे तस्य विधेयत्वानुपपत्तेः । काम्ये हि अश्वमेधादौ कामनानुगा प्रवृत्तिस्तदङ्गेषु तु शास्त्रत एवेति मीमांसासिद्धान्तेन हिंसनस्याङ्गभूतस्य विधेयत्वेन निषेध्यत्वायोगादित्यतिस्थवीयः शङ्क्यम् । कपिञ्जलानिति बहुवचनस्य परम्परया विधित्सितार्थगुणबोधकस्य त्रित्वसमानाधिकरणबहुत्वेनैव पर्यवसानसम्भवे "न हिंस्यादिति" सामान्यवाक्यस्यापि अनुपसर्जनीभूतार्थबोधकत्वेन तस्य त्र्यधिकपक्षिहिंसन-

(१) पाणिनीयमतानुसारेण अचरितप्रायश्चित्तानामिति वक्तव्येऽपि अचीर्णेति प्रयोगः स्वस्यर्षित्वाभिमानेनेति मन्यामहे ।

बाधकताया आवश्यकत्वात् । न च सामान्यविशेषयोर्बाध्यबाधकभावस्य लोकशास्त्रोभयसिद्धतया "न हिंस्यादिति" सामान्यशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण बाधो नायुक्त इति वाच्यम् । कपिञ्जलवाक्ये संख्याया गुणभूतत्वेन द्वित्वाधिकसंख्यात्वरूपबहुत्वस्य चतुष्ट्वादाविव त्रित्वेऽपि विद्यमानत्वेन द्वित्वाधिकसंख्यात्वरूपबहुत्वयोगित्रित्वचतुष्ट्वादियावत्संख्यावच्छिन्नपक्षिहिंसनस्यासम्भवेन पाक्षिकतया चतुष्ट्वाद्यवच्छिन्नस्येव त्रित्वावच्छिन्नस्यापि वाक्यार्थताया आवश्यकत्वेन तत एवास्याः श्रुतेरर्थपर्यवसानसम्भवेऽनुपस्पृष्टार्थस्य हिंसानिषेधवाक्यस्य त्र्यधिकपक्षिहिंसनानिष्टसाधनताबोधनेऽप्रतिरुद्धव्यापारत्वात् । वयं तु "कपिञ्जलानालभेतेति" श्रुतिर्न कपिञ्जलालम्भनबोधिका तथा सति हिंसाया रागतः प्राप्तत्वेन श्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्गात् । किन्तु रागतः परिप्राप्तमालम्भनमनूद्य तस्येष्टसाधनताबोधनतात्पर्यिका तत्र च सर्वेष्टसाधनताबोधनस्य बाधितत्वेन प्रकृतेष्टसाधनतैवार्थो-

वक्तव्यस्ततश्च प्रकृताश्वमेधयागात्मकेष्टसाधनता-बोधनस्य श्रुत्यर्थतया हिंसाया इष्टसाधनत्वेन श्रुतितात्पर्याविषयत्वात् यागात्मकेष्टसाधनता-याश्च श्रुतितात्पर्यविषयीभूताया अणुनापि दोष-त्वेनासंस्पर्शनाम्नाचोत्सर्गापवादभावोऽनयोर्वच-सोः। त्रयाणामपि च कपिञ्जलानामालम्भनं भव-त्येवानर्थहेतुः। दुरदृष्टजनकेऽपि च कपिञ्जला-दौ रागजन्यैव प्रवृत्तिरिति हिंसया प्रत्यवयन्तो-ऽपि रागेण तत्र प्रवर्त्तन्ते, अधिकपक्षिहिंसा च यथा न यागाङ्गं तथा न्यरूपयमेव पूर्वम्। किं च निरुक्तरीत्या श्रुतेरश्वमेधात्मकेष्टसाधनतावगम-कत्वे कपिञ्जलानां श्रुतितात्पर्याविषयत्वेन तत्सं-ख्याया अत्यन्तदूरपराहतं तात्पर्यविषयत्वमिति तत्र त्रित्वत्वेन सङ्ख्यासङ्कोचस्योचितत्वेऽपि प्रकृ-ते शास्त्रोदितप्रायश्चित्तानुष्ठानेन व्रात्यसंस्करणे कुतस्त्यः सङ्कोचोऽवलम्बनीयः। नहि प्रकृतेऽपि व्रात्यसंस्कारोऽन्यतः * प्राप्तो येन तत्र कपिञ्जल-

* यथा कपिञ्जलालम्भनं हिंसात्वेन रागतः प्राप्तम्।

न्यायेन सङ्कोचो वक्तव्यः । अत्र तु व्रात्यतायाः संस्करणीयतायाः प्रायश्चित्तानुष्ठाने असंस्कार्यतायाश्च शास्त्रैकसमधिगम्यत्वेन न तत्र सङ्कोचकल्पनासम्भवः । शास्त्रोपस्थापितार्थस्य निषेधकल्पनायां तु षोडशिग्रहणाग्रहणवद्विकल्प एवापद्येतासमञ्जस इत्याचक्ष्महे ।

। वस्तुतस्तु सर्वोऽप्ययेष नागेशस्य भ्रान्तत्तानिबन्धनः प्रलाप एव यस्य प्रपितामहादीति सूत्रे आदिपदसत्त्वेन बहुवचनविरहात्कपिञ्जलन्यायावतारकथाया अप्यसम्भवात् । यद्यादिपदघटितस्थले कपिञ्जलन्यायनिपातस्तदा "सर्वादीनि सर्वनामानि" "अदिप्रभृतिभ्यः शपः" इत्याद्यादिपदघटितशास्त्रेषु तदवतारे स्यादुन्मूलनं साधुप्रयोगसंप्रदायस्येति विज्ञा एव विजानन्तु । यदप्यतिशिथिलम् अन्धनीतान्धन्यायेन स एव "किञ्चायं प्रायश्चित्तविधिर्येषां वंशे उपनयनं स्मर्यते तद्विषय एव न तु तदस्मरणे, 'यस्य प्रपितामहादीत्येतद्विषये पावमान्यादिभिः स्नानमि-

त्यर्थके प्रतीके प्रतिपुरुषं संख्याय संवत्सरानि-
त्येतदचापि द्रष्टव्यमिति हरदत्तोक्तेः, तदस्मरणे
तद्गणनाया असम्भवात् इति प्रललाप तदेतदपि
ऋष्यक्षरस्वारस्यानभिज्ञेभ्य एव रोचतां तथाहि
प्रथमे पर्याये संवत्सरमुदकोपस्पर्शनं तत्र मन्त्र-
विशेषानाम्नानाद्यथैव वा प्रकृतद्वितीयपर्यायो-
दितपावमान्यादिभिर्वा, द्वितीयपर्याये तु मन्त्रा-
अप्युक्ताः कालविशेषश्चोक्तः "प्रतिपुरुषं संख्याये-
त्यादिना। तृतीयपर्याये तु " ततउदकोपस्पर्शनं-
पावमान्यादिभिः" इत्यभिहितम् । एवं चेह तृ-
तीयपर्याये द्वितीयपर्यायोक्तस्य प्रतिपुरुषं संख्या-
येत्यस्य ऋषेर्योजनीयत्वे उदकोपस्पर्शनं पूर्ववदि-
त्येवोक्तं स्यान्न तु, 'उदकोपस्पर्शनं पावमान्या-
दिभिः' इति पुनः पावमान्यादिमन्त्रोत्कीर्त्तना-
न्नेह पुरुषसंख्याविशेषपरिग्रह इत्यापस्तम्बसूत्रा-
र्थविवेचनायां निरूपितमस्माभिरिति तत्रैव द्रष्ट-
व्यम्। न चैवमृषिशैलीपरिकल्पने द्वितीयपर्याये,
"तेषां गमनं भोजनं विवाहमिति वर्ज-

येत्” इत्यभिधाय किमिति तृतीयपर्याये तेषां गमनं भोजनमित्याद्याम्रेडितं, त्वदुक्तरीत्या तु इहापि तेषां गमनादिकं वर्जयेदित्याद्येव किञ्चिदतिसंक्षिप्यैव वक्तव्यं स्यादिति वाच्यम् । द्वितीयपर्यायापेक्षया तृतीयपर्याये व्रात्यतापापस्य परिपाकदशापन्नत्वेन तादृशव्रात्यैर्न कश्चिदपि व्यवहारः करणीय इत्येतदर्थपोषणाय ‘तेषां गमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेदित्यवधारणार्थकचकारसंवलिततादृशवाक्येन व्यवहारान्तरपरिग्राहकेतिपदघटितेन सर्वथापि सर्वेऽपि च व्यवहारा एतैर्वर्जनीया एवेत्यर्थस्य बुबोधयिषितत्वेन तस्य चार्थस्य विशिष्योत्कीर्तनं विना बोधयितुमशक्यतया तदाम्रेडनस्यावश्यकत्वात् । अत एव त्विहावधारणार्थकचकारोपादानमपि सफलम् । एतेन उदकोपस्पर्शनं पूर्ववदित्युक्तौ प्राथमिकपर्यायोदितरीत्या उदकोपस्पर्शनभ्रमो मा भूदिति विशिष्य तदुपादानमावश्यकमित्यपि प्रत्युक्तम् । तृतीयपर्याये पापगरिम्णो न्याय-

तोऽपि प्राप्ततया कथमप्यादिमपर्यायोदितप्रा-
यश्चित्तरीतेः शङ्कितुमप्यशक्यत्वेन तथा वक्तुम-
श्रेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा। व्यत्यये कर्मणां साम्यं
पूर्ववच्चाधरोत्तरम्। इति याज्ञवल्क्यस्मृतिविरो-
धाच्च पञ्चमादीनामुपनयनं तथा हि सा स्मृतिरि-
त्थं विज्ञानेश्वरेण व्याख्याता जातयो मूर्द्धावसि-
क्ताद्यास्तासामुत्कर्षो ब्राह्मणत्वादिजातिप्राप्तिः।
युगे जन्मनि सप्तमे पञ्चमे अपि शब्दात्षष्ठे बोद्ध-
व्यः। व्यवस्थितश्चायं विकल्पो व्यवस्था चेत्थं ब्रा-
ह्मणेन शूद्रायामुत्पादिता निषादी सा ब्राह्मणे-
नोढा दुहितरं काञ्चन जनयति सापि ब्राह्मणे-
नोढाऽन्यामित्यनेन प्रकारेण षष्ठी सप्तमं ब्राह्मणं
जनयति। एवं ब्राह्मणेन वैश्यायामुत्पादिता
षष्ठी साप्यनेन प्रकारेण पञ्चमी, षष्ठं ब्राह्मणं
जनयति ब्राह्मणेन क्षत्रियायामुत्पादिता मूर्द्धाव-
सिक्ता साऽप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चमं ब्राह्मणं
जनयति। एवं शूद्रायां क्षत्रियजोग्रा क्षत्रियेणो-
सिक्ता साऽप्यनेन प्रकारेण चतुर्थी पञ्चमं ब्राह्मणं
जनयति एवं शूद्रायां क्षत्रियजोग्रा क्षत्रियेणो-

ढा क्रमेण पञ्चमं क्षत्रियं जनयति, वैश्यायां क्षत्रियजा महिष्या क्षत्रियोढा क्रमेण पञ्चमं क्षत्रियं जनयति तथा करणी वैश्योढा पञ्चमं वैश्यमित्याद्यूह्यम्" तदेतदपि कणस्पर्शे कटिचालनायितं, संस्कारविलोपजन्याधमतामुपयातानां संस्कारः कति पुरुषपर्यन्तमिति विचारे यौनसम्बन्धनिबन्धनोत्तमाधमभावव्यवस्थापकपञ्चमषष्ठादिपुरुषजन्यताया उपन्यासस्य विचेतस एवोचितत्वात्। न चायमर्थः प्रकृते, नाविकल्पः संस्करणीयः किन्तु प्रकृतन्यायेन इहापि संस्कारसङ्कोचः कल्प्यत इति वाच्यम्। तथा सति संस्कारन्यायेन प्रकृतवचनोदितार्थस्यापि सङ्कोचकल्पने जनिजन्यदोषाणां पुरुषचयएव विशुद्धिः कल्पनीयत्वापत्तेः। तस्माद किंदेतत्

यदपि कर्मणां वृत्त्यर्थानां व्यत्यासे विपर्यासे सप्तमषष्ठपञ्चमेषु तत्साम्यं तथा हि ब्राह्मणो मुख्यवृत्या अजीवन् क्षात्रेण कर्मणा जीवेदित्यनुकल्पः, तेनाप्यजीवन् वैश्यवृत्या तयाप्यजीवन् शूद्रवृत्या, एवं क्षत्रियस्य वैश्यशूद्रवृत्ती

अनुकल्पः, वैश्यस्य शूद्रवृत्तिरिति । एवं कर्मणां विपर्यये सति यद्यापद्विमोक्षेऽपि तां न त्यजति तदा सप्तमादिजन्मनि साम्यं यस्य हीनवर्णस्य कर्मणा जीवति तत्समानजातिः । तद्यथा ब्राह्मणः शूद्रवृत्या जीवन् यदि पुत्रमुत्पादयति सोऽपि तयैव वृत्या जीवन् पुत्रान्तरमित्येवं परम्परया सप्तमं शूद्रमेव जनयति वैश्यवृत्त्या जीवन् षष्ठे वैश्यं क्षत्रियवृत्या जीवन् पञ्चमे क्षत्रियं क्षत्रियोऽपि शूद्रवृत्या जीवन् षष्ठे शूद्रमेव वैश्यवृत्या जीवन् पञ्चमे वैश्यं वैश्यः शूद्रवृत्या जीवंस्तामपरित्यजन् पुत्रपरम्परया तदत्यागे पञ्चमे शूद्रं जनयति "पूर्ववच्चाधरोत्तरमिति वर्णसंकरा अनुलोमाः प्रतिलोमाश्च दर्शिताः। तत्र मूर्द्धावसिक्त्यां क्षत्रियवैश्यशूद्रैरुत्पादिता । अम्बष्ठ्यां वैश्यशूद्राभ्यां निषाद्यां शूद्रेणोत्पादिता अधराः । प्रतिलोमजा इत्यर्थः । एवं मूर्द्धावसिक्त्यम्बष्ठीनिषादीषु ब्राह्मणोत्पादिता माहिष्योग्र्योर्ब्राह्मणक्षत्रियाभ्यां क-

रण्यां ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैरुत्पादिता उत्तरेऽनु-
लोमजा इत्यर्थः। वैश्याशूद्र्योस्तु राजन्यान्माहि-
ष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ वैश्यात्तु कः उपनयनाभावा-
देव ब्राह्मणादिवृत्तिहीनतया शूद्रवृत्त्यैव जीवनं
चेति दोषाधिक्यादस्य पञ्चमे शूद्रताप्राप्त्योपन-
यनप्राप्त्यभावात्। एवमेवंविधस्य क्षत्रियस्य तुर्ये
एव शूद्रता न हि शूद्रस्य प्रायश्चित्तसहस्रैरप्यु-
पनयनार्हता भवति न हि शूद्रवृत्त्या जीवति
ब्राह्मणस्यापि सप्तममपत्यमुपनयनार्हमिति क-
स्यापि संमतं कर्मणां व्यत्यये साम्यमित्यस्य त-
ज्जातितद्धर्मप्राप्त्यर्थातिदेशरूपत्वात्" साधु त-
त्त्वस्य पदवाक्यप्रमाणज्ञतासंदर्शनं साधु च वैदि-
कधर्मसंरक्षणं तथा हि किमयमुद्यमो भवत आ-
धुनिकेषु म्लेच्छभावेन व्यवहृतेषु भूतपूर्वक्षत्रियेषु
सांप्रतं यवनैर्दिल्लीन्द्रपैर्भूमिलोभेन त्याजितनि-
जधर्मेषु क्षत्रियत्वव्यवहारो मा भूदित्येतदर्थम् १
उत जयपुरजम्बूप्रभृतिदेशनिवासिषु क्षत्रियपद-
व्यवहृतेष्विति व्याहर तत्र प्रथमे ओमित्युत्तरं,

वृथा च तवैतावानायासः। शिष्टैस्तेषु क्षत्रियत्वप्रयोज्यदानेज्याध्ययनाद्यनाचारात् मन्वादिमहर्षिकाले यथा प्रत्यन्तवासिना निजधर्मच्युतानां क्षत्रियाणामपि दस्युपदेन व्यवहारस्तथा म्लेच्छतामुपयातेषु एतद्देशनिवासिष्वपि अस्माकमपि सर्वथा पुनरव्यवहार्यत्वमेवाभिमतमिति किमतिरिक्तम्। यदि क्षत्रियपदव्यवहृतेषु तदव्यवहारसाधनार्थमिज्याध्ययनादिवारणार्थं च भवतोऽयमुद्यमस्तदा तेषामाचारविलोपेन शूद्रादिवृत्त्युपजीवनेन चेति वक्तव्यं ततश्च भवतैव स्वोपष्टम्भकत्वेनाभिमतायां मिताक्षरायां किं व्यवस्थापितमिति निरीक्षस्व न हि तत्र अस्वया कृष्यादिवृत्त्योपजीवतामापन्नानां ब्राह्मणक्षत्रियाणां पातित्यं, परं भृशं वंशपरम्परया अनापद्यपि नीचवृत्तिमवलम्बमानानामिति स्फुटमुक्तं तदिह "कलिं सत्त्वहरं पुंसामिति श्रीमद्भागवतादिमहापुराणोपनिबद्धपरमापत्स्वरूपे कलौ परवृत्तिजुषाममीषां कथं जातिभ्रंशः शक्यसंभावनः। कलिधर्मनिरूपणे

दम्पर्येण प्रवृत्तायां पराशरस्मृतौ च स्पष्टमेव परवृत्त्यापि कलौ कालं क्षिपतां न जातिच्युतिरिति व्यक्तमेवोक्तमिति कथं कलिकवलितात्मसाराणां ब्राह्मणादीनां परवृत्तिं जुषमाणानामपि पातित्योक्तिस्ते साधीयसीति विवेचयन्तु विवेकिनः। किंच "व्यत्यये कर्मणां साम्यमिति" स्मृत्या साम्यमुच्यतेऽथवा तादात्म्यमित्यपि विवेचनीयं? तत्र यदि साम्योक्तिस्तादात्म्यपर्यवसायिनी तदा "दक्षिणार्थं तु यो विप्रः शूद्रस्य जुहुयाद्धविः। ब्राह्मणस्तु भवेच्छूद्रः शूद्रस्तु ब्राह्मणो भवे"दिति पराशरेण द्वादशाध्याये अभिहितत्वात् शूद्रा अपि ब्राह्मणा भवेयुरिति वितीर्येत तिलाञ्जलिर्वैदिकव्यवहारमाचायेति कीदृशी नागेशस्य धर्मविवेचनवैचित्रीत्यमत्सरा एवेह साक्षिणः। किंच ब्राह्मणपदप्रवृत्तिनिमित्ततापर्याप्तिर्योनितपःश्रुताचारसंस्कारेष्वेव वक्तव्येति विशिष्टब्राह्मणानां सर्वदैव न सौलभ्यमिति जातिब्राह्मणेष्वेव यथायथं गुणवत्तरगुणवत्तमेषु निर्गुणेषु उत्तमाधमब्राह्मणव्यवहारो वक्तव्यो यथो-

क्तं "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति" रिति पाणिनीयं व्याचक्षाणेन पतञ्जलिना—तपः श्रुतं च योनि-श्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम्। तपःश्रुताभ्यां योहीनो जातिब्राह्मण एव सः" इति, तदेतज्जातिब्राह्मण्यं मातुरेव प्रत्यक्षविषयोऽन्येषां तु पुनरनुमानाप्तो-पदेशाद्यवगतो हेतुः प्रात्यक्षिकव्यवहारस्य, न च मातृमात्रप्रत्यक्षस्य अन्येषां व्यवहर्तॄणां परोक्षस्य जातिब्राह्मण्यस्य कथं प्रत्यक्षत्वमिति शङ्क्यम्। जातिब्राह्मण्यस्य जातिब्राह्मण्यवत्पुरुषोत्पाद्यत्व-निबन्धनस्य मातृमात्रप्रत्यक्षस्यापि प्रत्यक्षनिमि-त्ततायां क्षतिविरहात्, न हि प्रत्यक्षमेव प्रत्यक्षनि-मित्तमिति व्याप्ति, रप्रत्यक्षस्य चक्षुरादेः प्रत्यक्षहे-तुतायाः सर्वसंमतत्वात्। न च जातिब्राह्मण्यस्य प्रत्यक्षत्वाङ्गीकारे चक्षुःसन्निकर्षे घटघटत्वयोरिव ब्राह्मणसन्निकर्षे तज्जातेरपि प्रत्यक्षत्वमावश्यकं, न चोपलभामहे तथा, निपुणतरमवधारयतामपि परीक्षमाणानां जातितत्त्वानवधारणदर्शनात् कर्पूरगौराणामपि त्रैवर्णिकेतरत्वदर्शनात् माषरा-शिनिभानामपि च ब्राह्मण्यदर्शनादिति फल्गु

शङ्क्यम्। यथा हि पामरसाधारण्येन सहजप्रत्यक्ष-विषयीभूताया रत्नजातेरश्वजातेश्च केषांचिदेव तच्छास्त्रवासनावासितान्तःकरणानामेव प्रत्यक्षमितरेषां तु प्रत्यक्षमवलोकयतामतिनिपुणानामपि न रत्नाश्वजातितत्त्वानुसंधानमेवमिह उत्पादकजातिज्ञानसहकृतचक्षुर्ग्राह्यत्वं ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्व-जातावङ्गीक्रियते इत्युत्पादकजातिज्ञानसहकारेण प्रत्यक्षैव ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वजातिः स्वपराधात्तु कदाचिद्दुर्ज्ञानोऽप्यसौ संबन्धः, तावताऽपि जातेः प्रत्यक्षत्वे न किंचिद् बाधकं, न हि भूमिष्ठानां यदप्रत्यक्षं गिरिशिखरमारुह्य तु प्रत्यक्षविषयीभूतं तदप्रत्यक्षमिति क्षमन्ते परीक्षका उत्प्रेक्षितुमपि न चापि काचित् स्त्री दुश्चारिणीति सर्वास्ताद्दृश्य इति सांप्रतं, महाकुलीना हि स्वीयप्राणार्पणपणेनापि दारान् परिरक्षन्तीति प्रकटमेव लोके। किंच व्यभिचारिणीनामपि संभवति स्वभर्तृनिमित्तः प्रसव इति तावता गर्भो न दुष्टः, व्यभिचारनिमित्तमशुभफलन्तु मातुरेव, अपत्यानि तु पुनर्ब्राह्मणादिवीर्यसमुत्पादितानि

ब्राह्मणादिद्विजातीयान्येवेति स्थितम् ॥

अत्रत्यो विशेषस्तु मदीयत्रैवर्णिकसर्वस्वे मच्छि-ष्यस्य मोहनलालवेदान्ताचार्यस्य कृतौ महामोह-विद्रावणे वा द्रष्टव्य इत्युपरम्यतेऽनल्पजल्पनात् । प्रकृतमनुसरामः, एवंच यथा तपःश्रुतयोनिरू-पसमुदायनिबन्धनं ब्राह्मणत्वमविकलमपरं तु ह्येकधर्मनिमित्तकं विकलं ब्राह्मण्यं, तथा शौर्य-श्रुतयोनिनिबन्धनं पूर्णं क्षत्रियत्वं, दाक्षिण्यशी-लश्रुतयोनिनिबन्धनंच पूर्णं वैश्यत्वमिति निरुक्त-चितयशून्या ह्येकनिमित्तवन्तोब्राह्मणा यथा विकलाः साकल्यकारकयोगविरहात्तथा क्षत्रिया वैश्या अपि विकलधर्मयुता विकलाः, साकल्य-योगिनः पुनःपूर्णा इति, कोऽयमतिरेकोयद् विकलधर्माणोऽपि ब्राह्मणा ब्राह्मणा एव क्षत्रिया वैश्यास्तु पुनर्विकलाः कथमपि न क्षत्रिया वैश्या-श्चेति चमत्कार एव विपश्चिताम् । यदि तु शस्त्र-ग्रहणप्रजापालनादिनिमित्तवतां शूद्रयोनिसमु-द्भवानामाधुनिकक्षत्रियपदवाच्यानामस्त्येव वि कलक्षत्रियपदप्रवृत्तिनिमित्तकः कथंचित्क्षत्रिय-

व्यवहारः, परं न ते क्षत्रियप्रभवा इति तेषां गौणं क्षत्रियत्वमिति प्रलपसि तदा जातिनिमित्तकमेव मुख्यं ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिकमिति भित्तिस्थानापन्नायां जातौ चित्रस्थानापन्ना एव तपःश्रुतशीलशमदमादय इत्यगत्याऽङ्गीकुर्वता किमिति क्षत्रियेषु संनह्यते सन्त्येव तत्र तत्राधुनाऽपि जगत्यां जातिक्षत्रियाः, यथोक्तं विष्णुपुराणे चतुर्थेंऽशे भगवता पराशरेण "पृथिव्यां बीजभूतास्ते केचित्तिष्ठन्ति भूतले" इति स्फुटमेव कलावपि विशुद्धक्षत्रियवंशबीजभूतपुरुषसत्ताऽवबोध्यते विशेषश्चात्रत्योऽग्रे पुराणवचनार्थनिरूपणसमये निपुणतरमुपपादयिष्यते, तदेवं क्षत्रियत्ववैश्यत्वयोर्ब्राह्मणत्वसमानयोगक्षेमत्वव्यवस्थितौ कलावपि विशुद्धमुख्यक्षत्रियादिसत्त्वसिद्धिरिति कीदृशं नागेशस्य कर्मव्यत्ययनिबन्धनं क्षत्रियोच्छेदनिरूपणमिति विज्ञा एव विदाङ्कुर्वन्तु। यदप्यत्रैव चक्षुषी निमील्यैव नागेशः "एवंविधस्य क्षत्रियस्य चतुर्थे शूद्रता, न हि शूद्रस्य प्रायश्चित्तसहस्रैरप्युपनयनार्हता भवति न हि शूद्रवृत्त्या

जीवति ब्राह्मणस्यापि सप्तममपत्यमुपनयनार्ह-मिति कस्यापि संमतं, कर्मणां व्यत्यये साम्यमित्यस्य तज्जातितद्धर्मप्राप्त्यर्थातिदेशरूपत्वा" दिति, तदेतदपि समयसाराभिज्ञानां परमहासास्पदं, सर्वापन्निदाने कलौ शूद्रवृत्त्या जीवतां चेत्संस्कारनिवृत्तिरभिमता ते तर्हि "न श्ववृत्त्या कदाचने"ति मनुना आपद्यपि प्रतिषिद्धया सर्ववृत्त्यधमया श्ववृत्तिपदवाच्यया सेवावृत्त्या तु अवलम्बनमात्रेण जातिभ्रंश इति जातिब्राह्मण्यमपि तेन स्वसदृशानां केषांचिदेव द्विजानामङ्गीकरणीयमिति जगद्व्यवहारोपप्लव एव स्यात्। कर्मव्यत्यये साम्यकीर्तनन्तु उत्तमवर्णस्य हीनाचारानुष्ठानेन अनादरणीयोपेक्षणीयत्वादिव्यवहारविधानतात्पर्यकमितरथा तु शूद्रस्यापि उत्तमाचारवतो ब्राह्मण्यप्रसङ्गो भवतोऽप्यनिष्टोभवत एवापद्येत, तदवश्यं परवर्णाचरणेन परवर्णधर्मप्राप्तिरेव ऋषितात्पर्यविषयीभूता न तु तादात्म्यापत्तिरिति, ते चापि धर्माः पूर्वोक्ता एव आदरणीयत्वाभ्युत्थानीयत्वादिलक्षणा न तु ब्राह्म-

णत्वक्षत्रियत्वादिरूपाः, तथा सति “ धर्मचर्य्यया जघन्यो वर्णः पूर्वं पूर्वं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । १ । अधर्मचर्य्यया पूर्वःपूर्वोवर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ । २ । प्रपाठकम् । २ । पटलम् । ५ । सू० । १० । ११ । इत्यापस्तम्बोक्तरीत्या वैश्यवृत्त्या क्षत्रियवृत्त्या च वर्तमानः शूद्रोऽपि भवेदुपनेतव्यो भवत इति वर्णाश्रमव्यवस्थैवोच्छिद्येतेति त्वद्भिमिच्छतो-मूलहानिः । ततश्च शुक्लकृष्णकर्मानुष्ठानेन नीचानामुत्तमजातिमत्त्वमुत्तमानां चाधमजातिमत्त्वं बोधयन्त्यो यावत्य एव स्मृतयो जातिव्यत्यासबोधकत्वे विरुध्येरन् “ निषेकादिश्मशानान्तो-मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः । तस्यैवात्राधिकारोऽस्मिन् ज्ञेयो नान्यस्य कस्यचि ” दिति प्रथमस्याध्यायस्य शेषे पठितेन मनुवचनेनेति सर्वासामप्यमूषां स्मृतीनां गुणाधानगुणापकर्षबोधकतैवास्येयेति गुणापगुणैर्जातिविपर्य्ययभणितिर्वर्णव्यवस्थोच्छेदतत्परेभ्य एव रोचते न तु शास्त्रतात्पर्यविद्भ्यः । अत्र हि मनुवचने मन्त्रैर्यस्योदितो विधिरित्यनेन

जातिमतोमन्त्रपूर्वककर्मानुष्ठानं बोध्यते न तु जातिरेव कर्मानुष्ठानजन्येति तथा सति तु—निषेकादिश्मशानान्तो मन्त्रैर्यस्य भवेद् विधिः इत्येवास्मरिष्यन्मनुर्न तु यथोक्तमिति कर्मणां वर्णाश्रमविशेषनिर्वाहकतैवागतया भवताऽभ्युपेतव्येति न जातिकारकाणि कर्माणि किं तु निर्वाहकाणि पोषकाणि चेति क्षत्रियादीनां कतिपयपुरुषपर्यन्तं संस्कारनिवृत्तावपि कर्मव्यत्ययेऽपि च न जातिच्युतिरित्यपक्षपातिनां विदुषां परामर्शः। न च कतिपयपुरुषपर्यन्तं संस्कारनिवृत्तौ कर्मव्यत्यासेऽपि च सर्वैरेव संस्कारोऽङ्गीक्रियते यस्मादनवधिकपुरुषपरम्पराप्रवाहपतितसावित्रीकाणां संस्कारसमुच्चयः स तु पुनरुच्छृङ्खलानामेव शोभते न तु शास्त्रमर्यादापरवतामिति वाच्यम्। आपस्तम्बसूत्रार्थविवेचनायां बहुपुरुषपतितसावित्रीकाणां संस्कार्यतायास्ततो लाभस्य सूत्राक्षरस्वारस्येन बहुधा प्रागेव प्रपञ्चिततया तथा वक्तुमशक्यत्वात्। यदि तु न केनापि शिष्टेन तथाऽर्थो निरूपित इति मदुक्तापस्तम्ब-

सूत्रार्थस्य सयुक्तिकत्वेऽपि तदनादर इति ब्रूषे तर्हि केऽवशिष्टाः शिष्टा येषां मदुक्तार्थो नाभिमतः, मदनरत्नापरार्कप्रभृतिसर्वशिष्टसमादृतग्रन्थेषु अस्मदभिहितार्थस्यैवासकृन्निरूपितत्वेन मदुक्तार्थे शिष्टानादरस्य वक्तुमशक्यत्वात्, तथा हि प्रायश्चित्तप्रकरणे आपस्तम्बसूत्रार्थविवेचनायां मदनरत्ने "यस्य प्रपितामहादेरुपनयनं नास्ति तथाऽर्वाचामपि पुरुषाणामुपनयनाभावः ते सर्वे श्मशानपदवाच्याः" इति, स्पष्टमिदमेतेन यदिहापस्तम्बसूत्रे प्रपितामहादिपदेन न केवलं प्रपितामहमारभ्यावराः प्रपौत्रान्ता एव विवक्षिताः किन्तु मदभिमतरीत्या प्रपितामहमारभ्यापरे ऊर्द्धपुरुषाः अधः पुरुषाश्च परिगृह्यन्त इति तेषां कृतप्रायश्चित्तानां भवत्यधिकारो यथायथं त्रैवर्णिकसाध्याश्रमादिप्रतिनियतधर्म्यकर्मस्विति ॥ एवमपरार्के प्रायश्चित्तप्रकरणे आपस्तम्बसूत्रार्थविवेचनायां "यस्य तु प्रपितामहादेरुपनयनं न स्मर्यते तथार्वाग्देतेषामपि पुरुषाणामुपनीत्वं ते सर्वे श्मसानवदशुचयः" तदेवं वदतामपरार्ककृतां

प्रपितामहादिपदेन शक्त्या नाधस्तनाः प्रपौत्रा-न्ताः परिजिघृक्षिताः किन्तु प्रपितामहपित्रादय-एव। अत एव तु यस्य तु प्रपितामहादेरुपनयनं न स्मर्यते इत्यभिधाय "तत्रार्थादेतेषामपि" इत्यु-क्तम्। अयमिहाभिसंधिः प्रपितामहादिपदस्य स्वजनकजनकजनकत्वादिसंबन्धेन पुरुषविशिष्ट-पुरुषार्थकतया प्रपितामहादिपदेन प्रपितामह-पित्रादीनामेव परिग्रहसंभवो नापरेषां प्रपौत्रा-दीनामिति प्रपितामहादिपदेन तेषामसंग्रहेऽपि वैदिकसंस्काराणां वैदिकसंस्कारवत्पुरुषजन्यपुरु-षमात्रविषयकतया प्रपितामहादीनामनुपनयने तदपत्यानां नोपनयनादिवैदिकसंस्कारसंभव इ-त्यार्थिक एव तेषामप्युपनयनाभाव इत्यक्षरतस्ते-षामुपनयनविरहाबोधेऽपि अन्यथाऽनुपपत्तिसि-द्धस्तेषामुपनयनाभावः। अयमेव चार्थः "यस्य प्रपि-तामहादेरुपनयनं नास्ति" इत्यभिधाय "तथाऽ-र्वाचामपि पुरुषाणामुपनयनाभावः" इति वदता मदनरत्नकृता व्यञ्जितः। अयं तु पुनर्विशेषो-यदत्र प्रपितामहादिपदेन स्वजनकजनकजनक-

त्वस्वजन्यजन्यजन्यत्वाद्यन्यतरसंबन्धेन पुरुषवि-
शिष्टपुरुषार्थकत्वं प्रपितामहादिपदस्यापस्तम्ब-
सूत्रस्थस्य विवक्ष्यते, अपरार्के तु नान्यतरसंब-
न्धेन पुरुषविशिष्टपुरुषार्थकता प्रपितामहादिप-
दस्य विवक्षिता, किन्त्वेकसंबन्धेनैवेति आर्थिकस्त-
त्र प्रपौत्रान्तसमुदायस्य सूत्रस्थप्रपितामहादिप-
देन परिग्रहोऽभिधीयते, तदेवं सर्वशिष्टपरिग्रह-
ग्राहितप्रामाण्यकेषु एतावत्सु मान्यनिबन्धेषु मद-
भिमतमर्थमभिदधत्सु को नाम विकल्पकरणः
चिरदुर्वासनापरिपाकसमुल्लासितसाहजिकक्षत्रि-
यादिद्विजद्वेषमात्रेण मदुक्तापस्तम्बसूत्रार्थकल्पनां
कलङ्कयितुमुत्सहेतापीति सर्वमवदातम् । यदपि
"एतन्मूलकमेव कात्यायनेन ब्राह्मणविषये चतुर्थ-
स्यैवोपनयनमुक्तं न पञ्चमादीनाम् एवं चतुल्य-
न्यायात् क्षत्रियस्य तादृशस्य तृतीयस्यैवोपनयनं
न चतुर्थादेः, वैश्यस्य द्वितीयस्यैव न तृतीयादेः,
वस्तुतः क्षत्रियवैश्ययोः प्रथमव्रात्यपुरुषयोरपि
नोपनयनार्हतेति प्रागुक्तम् । एतन्मूलकमेव
हरदत्तेनापि पञ्चमादेः प्रायश्चित्तं नोक्तमित्युक्तं,

तदनङ्गत्वादिति तदाशयः" इति नागेशस्तदेत-
न्नालोचितलोकद्वयमार्गतामेवास्य व्यनक्तीति मृ-
गयामहे तथाहि त्रयो वेदा इति लोके व्यवहरन्तो-
ऽपि न परं धाम नोररीकुर्वते इति, श्रुतिवाक्यम-
वष्टभ्य त्रिवृत्करणपक्षमास्थिता अप्यौपनिषदाः
पञ्चीकरणमास्थिषत षट्पदार्था इत्याचक्षाणा अपि
काणादाः सप्तमं नाभावमवधीरयन्ति ततश्च
द्वित्रिचतुःपञ्चादिपदानां संख्याऽभिधायकानां
न्यूनाधिकोभयसंख्याव्यवच्छेदफलकत्वं न नियत-
तमित्यगत्याऽङ्गीकरणीयमिति त्रिपुरुषपतितसा-
वित्रीकाणामिति कातीयसूत्रस्थत्रिपदस्य नाधि-
कसंख्याव्यवच्छेदसिद्धिफलकत्वमिति ब्राह्मणवि-
षये चतुर्थस्यैवोपनयनमित्युक्तमिति नागेशोक्ति-
रयुक्तैव, यदि च त्रयो वेदा इति व्यवहारे आध्व-
र्यवादिकर्मोपयुक्ता वेदा वेदपदेन विवक्ष्यन्त इ-
त्याथर्वणस्याभिचारादिमन्त्रप्रधानस्य न व्यावृत्ति-
स्ततः सिध्यति । त्रयो लोका इत्यनेन च गुणत्रय-
परवशा लोका उच्यन्त इति न परं धाम व्युदस्यते ।
त्रिवृत्करणपक्षोऽपि वाय्वाकाशयोः पृथिवीजला-

दीनामिव नोपष्टम्भहेतुत्वं नाप्यापामरव्यवहार-
विषयत्वमिति कथं चिन्तेतुं शक्यः। काणादानां
पदार्थषट्कोक्तिस्तु भावपदार्थपरेति पूर्वः सर्वोऽपि
विषम उपन्यास इत्युच्यते तदा चतुःपञ्चषट्-
सप्तादिपुरुषपतितसावित्रीकपुरुषापेक्षया त्रिपुरु-
षपतितसावित्रीकस्याल्पायासशोध्यत्वलक्षणं विशे-
षमाश्रित्य कातीये त्रिपदोपादानस्याप्यस्त्येव प्र-
योजनमत एव तु तं तं प्रायश्चित्ते विशेषमाश्रित्य
स्वस्य कालातिक्रमे, पितुरनुपपनयने पितामहस्य
चानुपनयने प्रातिस्विकरूपेण विभिन्नं प्रायश्चित्त-
मुपदिदिक्षुर्गृह्यसूत्रकृतः, यथा हि षड् भावाः सप्त-
मस्त्वभाव इति षट् पदार्थानुपदिशन्नभावमनिर्दि-
शन्नपि मुनिर्नाभावं न्यषेत्सीत् किन्तु अन्वमंस्त,
षट्पदं तु काणादसूत्रस्थं तस्य भावतात्पर्यकम्।
एवमिह कात्यायनस्त्रिपदमुपाददानोऽपि न च-
तुर्थादेः संस्कारं प्रत्यषेत्सीत् किन्त्वन्वमंस्त, त्रि-
पदोपादानप्रयोजनं तु चतुर्थाद्यपेक्षया अल्पप्र-
यासशोध्यत्वलक्षणविशेषाभिधानमेवेति न तदुपा-
दानवैयर्थ्यशङ्कावसरः प्रसरति। एवमेव तु स्वस्य

कालातिक्रममारभ्य पितामहपर्यन्तं संस्कारशू-
न्यत्वे संस्कारकरणप्रकारमभिधाय प्रपितामहपि-
त्रादीनामपि संस्कारशून्यत्वे अधस्तनानां स्वा-
त्मानं संस्चिकीर्षूणां संस्कारबोधनाय "यस्य तु
प्रपितामहादि न स्मर्यत उपनयन" मित्यादिना
भगवत आपस्तम्बस्य लोकाननुजिघृक्षोः प्राय-
श्चित्ताभिधानमनुगृह्यते इतरथा तु नागेशरीत्या
कातीयार्थोपवर्णने स्पष्टमेवापस्तम्बवचनोपमर्दः
प्रसज्येतेति निपुणतरं व्यरूपयमर्वागेवेति तत
एवावधेयम्। यच्च "एवं च तुल्यन्यायात् क्षत्रि-
यस्य तादृशस्य तृतीयस्यैवोपनयनं न चतुर्थादे-
रित्यादि तदत्यन्तमनिपुणभणितं तथाहि तुल्य-
न्यायपदेनेह ब्रह्मक्षत्रविशां यथापूर्वं ज्यैष्ठ्येन यदि
ब्राह्मणस्य चतुर्थपुरुषपर्यन्तमेव संस्कार्यत्वं तर्हि
तमपेक्ष्यावरस्य क्षत्रियस्य तृतीयपर्यन्तमेव संस्का-
र्यत्वं वैश्यस्य तु ततोऽप्यवरस्य द्वितीयपर्यन्तमेव
संस्कार्यत्वं न तृतीयपुरुषेऽपीत्ययमर्थो विवक्षितस्तथा
च यो यो वर्णो यमपेक्ष्यावरः स संस्कारह्रासा-
दौ तद्वर्णव्रात्यताप्रयोजकं कालमपेक्ष्याल्पका-

लेन व्रात्यतावानित्ययमर्थो बुबोधयिषितोऽथवा वर्णानामानुपूर्व्येण ब्रह्मक्षत्रविशां यथापूर्वं पापाधिक्येऽपि शोध्यत्वेन यो यमपेक्ष्य वर्णकृतज्यैष्ठयवान् स पापाधिक्येऽपि शोध्यतावानित्येव वाऽर्थः, स च ब्राह्मणापेक्षया अधिककालपर्यन्तमुपनेयत्वेनाभिमतयोः क्षत्रियवैश्ययोर्बाधितः, ब्राह्मणो हि आषोडशादेव संस्कार्यः क्षत्रियवैश्यौ तु आद्वाविंशादाचतुर्विंशाच्चेति क्षत्रविशोर्नाल्पकालेन व्रात्यत्वं, परं तु ब्राह्मणापेक्षया अधिककालपर्यन्तं तयोः संस्कार्यत्वमिति तयोः कालाधिक्येऽपि न व्रात्यतेति भज्यते पूर्वा व्याप्तिः। यदि तूत्तरैव विवक्षितेति ब्रूथ तदापि वर्णकृतज्यैष्ठयवति ब्राह्मणे मद्यपायिनि अशोध्यत्वेनाभिमते द्वितीयाऽपि व्याप्तिर्भज्यते, त्वदुक्तरीत्या तु वर्णकृतज्यैष्ठययोगिनि ब्राह्मणे मद्यपायिनि अल्पायासेन शोध्यत्वं क्षत्रियवैश्ययोर्मद्यपायिनोः सर्वथाऽपि अशोध्यत्वमेवापद्येत। वस्तुतस्तु ब्राह्मणः सर्वथाऽपि गौडीमाध्वीपैष्टीसुराऽऽसवादिसर्वमद्यसंस्पर्शे पतत्येव क्षत्रियवैश्यौ तु केषांचिन्मद्यानां

पानेऽपि न पततः, वृद्धविष्णुना "माधूकमैक्षवं सैरं तालं खार्जूरपानसम्। मधूत्थं दैव माध्वीकं मैरेयं नारिकेलिजम्। अमेध्यानि दशैतानि मद्यानि ब्राह्मणस्यतु"॥ अत्र ब्राह्मणपदोपादानेन क्षत्रियवैश्ययोरनिषेधात्, इत्युक्तत्वात् अत एव व्यासेन क्षत्रियादीनां माध्वीकपानमनुज्ञायते "उभौ मध्वासवक्षीवौ उभौ चन्दनचर्चितौ। एकपर्यङ्कर थिनौ दृष्टौ मे केशवार्जुनौ" इति, यदि च क्षत्रियवैश्ययोर्ब्राह्मणापेक्षयाऽधिके वयसि उपनेयतायां विलम्बेन व्रात्यतायाश्च वचनबलसिद्धतया न क्षतिरित्युच्यते तदा चिरं जीव पालय च पुराणीं शास्त्रमर्यादामित्येव ब्रूमहे परं त्वनवधानेन "एवं च तुल्यन्यायादि" त्यादिशास्त्रकदर्थनं ते नोचितमिति प्रार्थयामहे, नाप्यत्र न्यायपदेन युक्तिर्वक्तुं शक्यते पूर्वोक्तदोषदूषितत्वात्। ब्राह्मणस्य चेच्चतुर्थे संस्कार्यता तर्हि क्षत्रियस्य तृतीयस्यैव वैश्यस्य तु द्वितीयस्यैव संस्कार्यत्वमित्यादिकमपि न वक्तव्यं तादृशार्थस्यावाचनिकत्वादयुक्तिकत्वाच्च यच्च वस्तुत इत्यादिना क्षत्रियवैश्ययोः प्रथमव्रात्य-

पुत्रयोरप्यनुपनेयत्वाभिधानं तत्तु सर्वशास्त्रपथा-
तीतं सर्वथाऽपि युक्तिपराङ्मुखं च कात्यायनाप-
स्तम्बबौधायनादिमहर्षिभिर्ब्रह्मक्षत्रविशां प्रातिस्वि-
कं मुख्यं गौणं चोपनयनकालमभिधाय तयोरुल्ल-
ङ्घने व्रात्यतायाः उक्तत्वेन पितृपितामहप्रपितामह-
हादीनां व्रात्यत्वे ब्रह्महादिपदप्रवृत्तिनिमित्तीभू-
तगुरुपातकवत्तां च विनिर्दिश्य संस्कारेप्सायां त्र-
याणामपि वर्णानां साधारण्येनैवैकरूपेण संस्का-
र्यतायाश्चोक्तत्वेन ब्राह्मणस्य त्रिपुरुषपतितसावि-
त्रीकस्यापि संस्कार्यत्वमितरयोस्तु प्रथमव्रात्याप-
त्ययोरप्यसंस्कार्यत्वमत्र विनिगमनाविरहेण तथा
वक्तुमशक्यत्वात्। एवमेव तु मनुयाज्ञवल्क्यावप्या-
हतुः "आषोडशाद्‌द्वाविंशाच्चतुर्विंशाच्च वत्सरात्।
ब्रह्मक्षत्रविशां काल औपनायनिकः परः। अत-
ऊर्द्ध्वं पतन्त्येते सर्वधर्मबहिष्कृताः। सावित्रीपतिता
व्रात्या व्रात्यस्तोमादृते क्रतोः"॥ इति, आषोड-
शाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्तते। आद्वाविंशात्
क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः। अत ऊर्द्ध्वं त्रयोऽ-
प्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या

भवन्त्यार्यविगर्हिताः" इति, तदत्र "त्रयोऽप्येते" "अत ऊर्द्ध्वं पतन्त्येते" इत्यादिना च साधारण्येनाभिधाने विशेषकल्पनं विशेषज्ञस्यैव शोभतां न त्वस्मादृशां शास्त्रपरवतां युक्तिपथानुवर्तिनां चेति न पाणिपिहितम्। "हरदत्तेनापि पञ्चमादेः प्रायश्चित्तं नोक्तम् इत्युक्त" मिति समुपन्यस्य तदनर्हत्वादिति तदाशयः" इत्याशयाविष्करणं तु नागेशस्य "आत्मवत्सर्वभूते" ष्विति न्यायार्थमनुरुन्धानस्य पाण्डित्यद्रढिमानमेवावेदयति तथा हि हरदत्तेन आपस्तम्बसूत्रार्थनिरूपणे "पञ्चमादेः प्रायश्चित्तं नोक्तम्" इत्युक्तं, तस्य नायमर्थो यत्पञ्चमादेस्तदनर्हत्वात्प्रायश्चित्तानभिधानं किन्तु "गुरूणि गुरु लघुनि लघु" इति न्यायेन चतुर्थापेक्षया पञ्चमादौ पापगरिम्णा प्रायश्चित्तगरिम्णोऽप्यावश्यकतया प्रायश्चित्ताधिक्यस्य चापस्तम्बेन कण्ठरवतोऽनभिहितत्वात्पञ्चमादेः प्रायश्चित्तं नोक्तमित्युक्तं न तु प्रायश्चित्तानर्हत्वात्प्रायश्चित्तानभिधानं पञ्चमपुरुषादौ हरदत्तस्याभिमतं पञ्चमादेः प्रायश्चित्तं नोक्तमित्युक्त्वा त-

चैव पङ्क्तौ "धर्मशास्त्रतत्त्वज्ञैस्तु कल्पनीयम्" इत्युत्तरवाक्येन पापगरिम्णोऽनुसारेण प्रायश्चित्तगरिम्णः कल्पनीयतायाः स्फुटमभिधानात् पञ्चमपुरुषादौ प्रायश्चित्तस्यानभिमतत्वे तु "धर्मज्ञैस्तु विधातव्यमित्युज्ज्वलाकृतां हरदत्तानामभिधानमत्यन्तमुपरुध्येतेत्यमत्सरा एव सारग्राहिणः साक्षिण इति नातिगहने विषये न बहु पराक्रान्तुमुचितमित्युदास्महे विस्तरभीरव इति विदाङ्कुर्वन्तु विद्वांसः। यदपि "एवं जातापत्यानां पितृपितामहप्रपितामहानामपि नोपनयनं यस्य प्रपितामहादीत्यापस्तम्बोक्तेः पतितसावित्रीकाणामपत्ये इति कात्यायनोक्तेश्चेति" तदप्यत्यन्तमनोज्ञमेव तथा हि आपस्तम्बेन ब्रह्महश्मसानादिपदवाच्यत्वमनुपनीतानां पितृपितामहप्रपितामहादीनां पौत्रप्रपौत्रपर्यन्तानामभिधाय "तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरेदित्यादिना अर्थित्वसामर्थ्ययोरधिकारिताप्रयोजकतया सामर्थ्यस्य च लौकिकस्य प्रायश्चित्तानुष्ठानशक्तिरूपस्य त्रैवर्णिकस्य सतो-

लोकसिद्धतया तदुपेक्ष्य इच्छाप्रयुक्तार्थितामा-
त्रमेव तत्राधिकारितावच्छेदकमित्युक्ततया इ-
च्छायाश्च जातापत्यसाधारण्येन संस्कारेच्छायां
जातापत्यत्वस्याप्रतिबन्धकत्वात्। एवमेव च ते-
षामित्यापस्तम्बसूत्रस्थं बहुवचनान्तं पूर्वोदि-
तपितृपितामहप्रपितामहसंग्राहकमभिधानमपि
भवत्यनुगृहीतमितरथा तु माणवकबहुत्वतात्प-
र्येण बहुवचनोपपादने बहुवचनस्वारस्यमुपरुध्यत
इति न दुर्ज्ञानं विज्ञानाम्। यच्चाद्यन्तयोरेकव-
चनं श्रूयत इत्युपक्रमोपसंहारन्यायेन एकस्य बा-
लस्यैवाधिकारित्वं न तु जातापत्यानां वृद्धव्रा-
त्यानामिति तदपि शास्त्रार्थानवबोधनिबन्धन-
मेव आद्यन्तयोरेकवचनश्रुतेः प्रत्येकमात्मानं
संश्चिकीर्षतः पितुः पितामहस्य प्रपितामहस्य
माणवकस्यैव वा द्वादशवर्षब्रह्मचर्यानुष्ठानमाव-
श्यकं न तु सर्वेषां संभूय प्रायश्चित्तमनुतिष्ठासूनां
मध्ये एकस्य तावद् ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठानेन विभज्य
वा किंचित्किंचित्प्रायश्चित्तमनुष्ठाय सर्वेषामधि-
कारसिद्धिरिति विपरीतार्थनिरासकत्वात् अत

एव तु "तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तं द्वादशवर्षाणि त्रैविद्यकं ब्रह्मचर्यं चरे" दिति एकवचनान्तेन निर्देशस्वारस्यं संगच्छते, संभवति चोक्तरीत्या उपक्रमोपसंहारस्यैकवचननिर्देशसार्थक्ये माणवकमात्रसंस्कार्यत्वबोधकताकल्पनाप्रयासोऽपार्थको मध्येऽसकृच्छ्रूयमाणबहुवचनस्य गौरवावाहकमाणवकबहुत्वतात्पर्यकत्वकल्पनाप्रयोजकश्चेति संकोचकल्पनाक्लेशः स्फुट एव। किंच वृद्धव्रात्यानामपि संस्कारो भवति वेदानुमतो यथा ताण्ड्यमहाब्राह्मणे चतुर्थखण्डे सप्तदशाऽध्याये "अथैष शमनीचामेढ्राणां स्तोमो ये ज्येष्ठाः सन्तो व्रात्यां प्रवसेयुस्त एतेन यजेरन्" तदर्थश्च अथ —पूर्वोक्तकनीयसां व्रात्यानां संस्कारविधानानन्तरम्, एष वक्ष्यमाणो यज्ञः शमनीचानामेढ्राणाम् —शमेन यौवनोपरमेण नीचमनुन्नतं मेढ्रेन्द्रियं येषां ते तथाविधाः स्थाविर्याद्विनष्टवीर्या इत्यर्थः तेषां स्तोमस्तैरनुष्ठेय इत्यर्थः तस्माद् ये ज्येष्ठा वृद्धतमाः सन्तोऽपि व्रात्यास्तेषामपि व्रात्यस्तोमाधिकारित्वं सिध्यति ततश्च व्रा-

त्यस्तोमानुष्ठानेन उपनयनाध्ययनाधिकारिता-
सिद्धिरिति न पाणिपिहितम्। न च संस्कारोत्तरं
केनापि कारणेन पतितानां वृद्धव्रात्यानां संस्का-
र्यत्वं ततः सिध्यति न पुनराबालमसंस्कृतानां
जातापत्यानां संस्कार्यताऽपि ततः सेद्धुमर्हति
तस्मात्पूर्वोक्तश्रुतिर्न त्वदभिमतार्थसाधिकेति वा-
च्यम् । ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सप्तदशाऽध्याये
"हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति न हि
ब्रह्मचर्यं चरन्ति। न कृषिं न वणिज्यां षोडशो
वा एतत्स्तोमः समाप्तुमर्हति"। २। इत्युक्त्या
जातापत्यानामपि वृद्धव्रात्यानां संस्कार्यतायास्त-
तः सिद्धेः। अत्रेदं तत्त्वं चतुर्विधा हि व्रात्या
भवन्ति निन्दिताः, कनीयांसो ज्यायांस एतत्त्रि-
तयव्यतिरिक्ता हीनाचाराश्चेति तत्र निन्दिता अ-
नध्याप्यानामध्यापकाः भृतकाध्यापका अयाज्य-
याजका इत्यादयस्तेषां संस्कारप्रकारस्तत्र ब्राह्म-
णे उत्कीर्तितः। कनीयांसश्च संस्कृतमातापितृ-
जाः स्वात्मना पतिता यथोचितकाले अजातोपवी-
तादिसंस्कारास्तेषामपि प्रायश्चित्तप्रकारस्तत्र नि-

दिष्टः। परे च वृद्धव्रात्याः अजातोपनयनादिसं-
स्काराः सन्त एव ये वार्धक्यमुपगतास्तेषां संस्का-
रप्रकारस्तत्रैवोक्तः, निरुक्तविधान्वयशून्या जाता-
पत्यास्त्रैवर्णिका उल्लङ्घितशास्त्रमर्यादा] हीना-
चारपदव्यपदेश्याः निन्दितपदवाच्येभ्योऽपि भृत-
काध्यापकादिभ्यो हीना असंस्कृतमातापितृजन्य-
त्वेन स्वयमपि चासंस्कारदशायामुद्वाहिताः समु-
त्पादितापत्यततयो हीनाचारा उच्यन्ते अपरेषां
दुश्चारिणां निन्दितपदेन, कनीयसां च स्वात्मना
असंस्कृतानां कनीयःपदेन, अनुत्पादिताप-
त्यानां च वृद्धव्रात्यानां ज्यायःपदेन उक्तत्वात्।
भवति चायमर्थो ब्राह्मणाक्षरस्वरसलभ्यः, तथा-
हि "हीना वा एते हीयन्ते ये व्रात्यां प्रवसन्ति"
अत्र हीनपदेन असंस्कृतमातापितृजन्यत्वमभिधि-
त्सते हीयन्ते इत्यनेन च तेषामुत्पादितापत्यत्वं
वैदिकोपनयनादिसंस्कारहानिहेतुतयोच्यते। प्र-
वसन्तीत्यनेन चिरंवयोऽतिक्रमेऽपि प्रायश्चित्ता-
ननुष्ठानेन कालक्षेपोऽभिधीयते। "ब्रह्मचर्यं
चरन्ति न कृषिं न वणिज्याम्" इत्यनेन च प्रा-

थमिकं क्रमपरिप्राप्तं ब्रह्मचर्यमुल्लङ्घ्य स्वीकृत-गृहस्थाश्रमा इत्ययमर्थो बोध्यते, बोध्यते च वै-परीत्येनापि आश्रमाश्रयणे पुनर्व्रात्यस्तोमानु-ष्ठानेन उपवीताद्यधिकारिता, यतो हीना वा एते हीयन्ते इत्यभिधाय ब्रह्मचर्यं न चरन्तीत्यु-क्त्या ब्रह्मचर्याश्रमाश्रयणसामान्याभावो बोध्यते न हि हीनजातानां स्वयंच हीनानां ब्रह्मचर्या-वलम्बनसंभवः प्रायश्चित्तानुष्ठानादृते । न चैवं हीनजातसंस्कारे म्लेच्छादिसाधारण्येन संस्कार्य-ताप्रसङ्ग इत्यतिस्थविष्ठमाशङ्कनीयम् । न ब्रह्म-चर्यं चरन्तीत्युक्त्या ब्रह्मचर्ययोग्यतायास्तत एव सिद्धेः न हि शूद्रा वैधब्रह्मचर्याश्रमं नाश्रयन्ते इति प्रा-यश्चित्तीयन्ते ततश्च येषां ब्रह्मचर्यप्रमुखाश्रमाव-लम्बनं विहितं तेषां तदननुष्ठाने पातकं प्राय-श्चित्तमनुष्ठाय च कर्माधिकारितेति न किंचिद-वद्यम् । "न कृषिं न वणिज्याम्" इत्यनेन च कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजमिति भग-वदुक्तरीत्या कृषिवाणिज्यादेर्वैश्यकर्मत्वावगमेन तदप्युल्लङ्घ्य वर्तमानाः शूद्राचारा इत्यर्थो लभ्य-

ते एवं चापत्तौ ब्राह्मणस्य क्षत्रियवृत्तिः क्षत्रियस्य च वैश्यवृत्तिर्वैश्यस्य च शूद्रवृत्तिरनुकल्पत्वेनोक्ता तामेनामनुकल्पवृत्तिमपि जहतः यथेच्छाचार-विहारास्त्रैवर्णिका एतेन प्राथमिकेन चतुःषोड-शीनामव्रात्यस्तोमयागेनान्वग्राहिषत । तदेतदु-क्तमापस्तम्बेन श्रौतसूत्रे "चतुः षोडशी सर्वेषा-म्" इति, तस्यायमर्थः, निन्दितकनीयोज्यायः-पदव्यपदेशभाजां त्रिविधानां व्रात्यानां संस्का-राः प्रातिस्विकरूपेण निर्दिष्टास्तद्व्यतिरिक्तानां तु सर्वेषां चतुःषोडशी प्रायश्चित्तत्वेनोच्यते । अयं चार्थो भवति प्रकरणानुगृहीतस्तथा हि "गरगिरो वा एते ये ब्रह्माद्यं जन्यमन्नमदन्त्यदु-रुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुरदण्ड्यं दण्डेन घ्नन्तश्चरन्त्य-दीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति षोडशो वा एतेषां स्तोमः पाप्मानं निर्हन्तुमर्हति यदेते चत्वारः षोडशा भवन्ति तेन पाप्मनोऽधिनिर्मुच्यते" गरगिरः—गरस्य विषस्य भक्षयितारो यथा हि वि-षेण भक्षितमात्रेण जना मूर्छन्ति कर्तव्याकर्तव्यवि-वेकविकला भवन्ति अनर्थहेतुमृच्छन्ति च एवमेव

पापाचरणरूपविषस्य वर्तमानकाले मोहहेतुत्वाद्
भविष्यति समये "पुनर्दरिद्रः पुनरेव पापः"
इति न्यायेन अनर्थपरम्पराहेतुत्वात्पापस्य विषरू-
पत्वं युक्तमेव। एते—निर्वक्ष्यमाणाचाराः। ब्र-
ह्माद्यं ब्राह्मणैर्वेदपारगैरदनीयम्, अन्नं—भोज्य-
पेयचूष्यलेह्याद्यनेकभेदप्रविभिन्नं, जन्यं—जनपद-
संबन्धि, अथवा जनेरुत्पत्तेः साधनं भोज्यपेया-
देरेव मातापित्रोरुपभुक्तस्य शुक्रशोणितादिद्वारा
बालशरीरारम्भकत्वात्। एवं च परकीयमेव
भोज्यं भुञ्जते इत्ययमर्थोऽथवा जन्यपदस्य द्वि-
तीयार्थादरपक्षे परकीयद्रव्यभोजिन एते दुष्ट-
संतानहेतव इत्यर्थः, मन्वादिस्मृतिषु वेदपारगो-
पभोगायैव सृष्टेरुक्तत्वात्। ये च अदुरुक्तवाक्यं—
शोभनार्थोपदेशजनकश्रुतिस्मृत्यादिवाक्यं दुरुक्तं
दुष्टार्थप्रतिपादकं दुष्टमिदमित्याहुः। अयं च
त्रैवर्णिकानां नास्तिक्यहेतुर्व्यापारस्सकलदुष्टत्रैव-
र्णिकसाधारणः। अथ क्षत्रियाणां विशिष्य पाति-
त्यहेतुमाह—अदण्ड्यं दण्डेन घ्नन्तश्चरन्ति—
अदण्ड्यं दण्डयन्तोऽपि न परितप्यन्तीत्ययं

चरन्तीत्यभिधानस्वारस्यलभ्योऽर्थः पापाचरणेऽपि परितापस्य पापशैथिल्यहेतुत्वात् प्रायश्चित्ताधिकारिताप्रयोजकत्वाच्च न परितप्यन्तीत्येतावता अनर्थपरम्पराऽनुष्ठातार एतेऽधमा इत्यर्थः। अदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति असंपादितोपनयनादिसंस्कारा, दीक्षितवाचं दीक्षितैः संस्कृतैर्वदनीयां वैदिकीं त्रयीरूपां वाचं वदन्ति अधीयते इत्यर्थः स्वेषामध्यापकानां च पापप्रयोजका इत्यर्थः। अयमिह निर्गलितोऽर्थः एतेषां वर्णाश्रमोच्छेदप्रयोजकविविधपापाचाराणां व्रात्यानां पापं निर्हन्तुं निःशेषेण दूरीकर्तुं षोडशस्तोम एव अर्हति पर्याप्नोति तथा च यद्देते चत्वारः षोडशाः षोडशस्तोमा भवन्ति अच्छावाकस्याज्यपृष्ठयोर्माध्यन्दिनाभवयोश्चपवमानयोतेन षोडशस्तोमचतुष्टयेन पाप्मनः सकाशात् अधि—उपरि। निर्मुच्यन्ते—निःशेषेण मुक्ता भवन्ति व्रात्यताप्रयोजकमहापातकान्निर्मुच्य त्रैवर्णिकानुष्ठेयवेदाध्ययनादिलक्षणस्वकार्ययोग्या भवन्ति। अत्रैवं पूर्वोक्तरवैदिकप्रकरणं शरणीकृत्य पराक्रमामहे

"न ब्राह्मणः पतनमृच्छती" ति स्मृत्या ब्राह्मणानां पातित्याभावोक्त्या त एव च्युतसंस्क्रियाः कतिपयपुरुषपर्यन्तं विशोधयितुं शक्यन्ते व्रात्यतापाप्मनः, क्षत्रियवैश्यास्तु न तथा, सहसैव तेषां व्रात्यतापापेन संस्कारयोग्यताया अपायादिति केषांचित्प्रलापोऽनादरणीयः। अदण्ड्यान् दण्डेन घ्नन्तश्चरन्ति न कृषिं न वणिज्यामित्यादिना क्षत्रियवैश्यानामपि व्रात्यताविमोकस्यानुमतत्वलाभात्। न चापदि ब्राह्मणानामपि क्षत्रियवैश्यवृत्त्यवलम्बनस्योदितत्वेन न ततः क्षत्रियवैश्यलाभ इति वाच्यम् अदण्ड्यान् दण्डेन घ्नन्त इत्यनेन हि न क्षत्रियवृत्तिरुदीर्यते, न हि क्षत्रियाणामदण्ड्यदण्डनं नाम लोकवेदयोः श्रूयमाणः कश्चन धर्मः एवं वैश्यानामपि कृषिवाणिज्यपरित्यागः, किन्तु अदण्ड्यदण्डनं कृषिवाणिज्यत्यागश्च क्षत्रियाणां वैश्यानां च यथायथं पातित्यमापादयतीत्ययमर्थोऽभिधीयते यस्य च यो धर्मः शास्त्रेऽनुष्ठेयत्वेनोच्यते तस्य तत्परित्यागे प्रायश्चित्तमिति नैते दण्ड्यदण्डनकृषिवाणि-

ज्यादयो ब्राह्मणधर्मा यतो ब्राह्मणं तदकुर्वाणं प्रच्यावयेयुः किन्तु परधर्मा एते अवलम्बमानमेव ब्राह्मणं पातयन्तीति पातकत्वाविशेषेऽपि "यस्य च योधर्मःशास्त्रे इति पूर्वोक्तन्यायेन क्षत्रियवैश्य-पातित्यहेतव एवादण्ड्यदण्डनकृषिवैमुख्यादय इति अणुरपि विशेषोऽध्यवसायकर इति न्यायेन क्षत्रियवैश्या एवेह गृह्यन्ते अत एवाश्वलायन-बौधायनकात्यायनापस्तम्बादिगृह्यसूत्रेषु त्रया-णामपि वर्णानां प्रातिस्विकं संस्कारकालमभि-धाय तदतिपाते समानमेव पातित्यं प्रायश्चि-त्तानुष्ठाने तु संस्काराधिकारितेति न कश्चिद् विशेषो येन पतिता ब्राह्मणा एव कृतप्रायश्चित्ताः संस्कार्याः न पुनः क्षत्रियवैश्या इति कल्प्येत "न ब्राह्मणः पतनमृच्छती" ति तु सत्त्वप्रधानप्रकृ-तिकतया ब्राह्मणानां पातकसामग्रीसंबलनवैकल्यं संबलनस्य वा क्वाचित्कतामेवागमयति न तु पातकसामग्रीसांगत्ये कंचिदतिरेकं, संभवति लौ-किककार्यकारणभावानवधीरणे तदत्यागस्यैवौ-चितत्वात्। एवं च ब्राह्मणसमानन्यायसिद्धोऽपि

क्षत्रियवैश्यानां व्रात्यानां संस्कार इति सुधियां परामर्शः। यच्च केषांचित् "न ब्रह्मचर्यं चरन्तीत्यस्य ब्राह्मणोचितं कर्म न चरन्तीत्यर्थोपवर्णनं तदपि श्रद्धास्पदं न विपश्चितामिति मन्तव्यं यतो ब्रह्मचर्यशब्दस्य रूढ्या ब्रह्मचर्याश्रम एवाभिधेयो न तु ब्राह्मणोचितं कर्मापि ततश्च रूढेर्योगापहारितया यावद् ब्राह्मणोचितं कर्म ब्रह्मचर्यशब्दादुपतिष्ठेत ततः पूर्वमेवोपस्थितेन ब्रह्मचर्याश्रमरूपार्थेनैवार्थसंगतिर्युक्ता किंच तत्तद्वर्णोत्पन्नस्य तत्तदाश्रमाश्रयणाधिकारितया आश्रमाणां वर्णनिर्वाह्यत्वेनोपजीवकतया यथा ब्राह्मणक्षत्रियाणां वैश्यपर्यन्तानां " न ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिं न वणिज्यामित्यनेन गौणमुख्यसाधारणसंपदापत्कालिकनिजवृत्तित्यागे वृत्तिव्यङ्ग्यवर्णविलोपे प्रायश्चित्तमुक्तम् एवं वर्णनिर्वाह्याश्रमविलोपेऽपि प्रायश्चित्ताभिधानमावश्यकं वर्णनिर्वाहकवृत्तित्यागस्य आश्रमत्यागजन्यपापापेक्षयाऽधिकपापप्रयोजकत्वात्, यो हि क्षमिष्णुः पृथिवीपालः स्वराष्ट्रोपद्रावके क्षमां कुर्यात् न क्षमेतासौ परराष्ट्र-

दृष्टश्चिति न प्रायश्चित्तपरिकल्पना यश्चौषधं क्षयं क्षपयेन्न क्षपयेद्दद्रः कासमित्यकोविदकल्पनैव, एवं वर्णसंरक्षणप्रहाणकारणवृत्तिव्यत्यासे चेत्प्रायश्चित्ताभिधानेन वेदैरन्वग्राहिषत, त्रैवर्णिकास्तर्हि आश्रमत्यागे व्यत्यासे वा प्रायश्चित्तोपदेशो न वर्तते इति न युक्तं वक्तुमतोऽप्यस्मदुक्तरीत्या न ब्रह्मचर्यं चरन्तीत्यनेन ब्रह्मचर्यप्रमुखाश्रमव्यत्यासे तत्प्रणाशे वा व्रात्यस्तोमस्तत्पापप्रहाणहेतुरित्येवाबूबुधन् वेदा इति वक्तव्यं, किंच परोक्तरीत्याऽर्थोपवर्णने न ब्रह्मचर्यं चरन्तीत्यनेन ब्राह्मणोचितकर्मत्यागो न कृषिं न वणिज्यामित्यनेन वणिग्वृत्तित्यागश्च लभ्यते न तु माध्यमिकस्य क्षत्रियस्य वृत्तित्यागतत्प्रायश्चित्तादिलाभ इति तादृशार्थकथनं न्यूनताग्रस्तं ब्रह्मचर्यशब्दस्याश्रमार्थत्वे तु त्रैवर्णिकानां ब्रह्मचर्यमेव सर्वाश्रमप्रकृतिरिति तत्परित्यागे सर्वाश्रमभङ्गः सूच्यत इति गृहस्थवानप्रस्थसंन्यासविपर्यासेऽपि प्रायश्चित्तादि ततो लभ्यते इति न न्यूनता ।

ब्राह्मणवैश्यवृत्तित्यागप्रायश्चित्ताद्युक्तेर्माध्यमिक-

स्य क्षत्रियस्य वृत्तित्यागप्रायश्चित्तादिकं न ततो दुर्लभमिति तु न सांप्रतं न हि कश्चि देक एव पुरुषो ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो यथा देवदत्त एक एव ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्या-साश्रमो भवति ततश्चाश्रमेषु श्चादिमस्य वैकल्यं सर्वाश्रमवैकल्यकारकं वर्णेषु तु न तथेति विशेषस-त्त्वेनाणुरपि विशेषो ऽध्यवसायकर इति न्यायेन त्वदुक्तरीत्याऽर्थकरणे क्षत्रियोपेक्षणं निर्बीजतामे-वापद्येत। एवं च वैश्यस्य त्रैवर्णिकेषु सर्वापकृ-ष्टतया तद्वृत्तित्यागे शूद्रवृत्तिरेव लभ्यत इति त्रैवर्णिकानां निजवृत्तित्यागे प्रायश्चितं ततो लभ्यते अत एव तु ब्राह्मणक्षत्रियवृत्तित्यागप्रा-यश्चित्तादिकमनभिधाय वैश्यवृत्तित्यागे प्रायश्चि-तमुपदिशता वेदेन ब्राह्मणस्य निजवृत्तिमपहाय क्षत्रियवैश्यवृत्त्यवलम्बने क्षत्रियस्य निजामपहाय वैश्यवृत्तिस्वीकारे वैश्यस्य च निजामुपेक्ष्य शूद्र-वृत्तिस्वीकारे प्रायश्चितं भवतीत्ययमर्थो वैश्य-वृतिं न चरन्तीत्यनेन बोध्यते असति विशेषे वर्णानामानुपूर्व्यव्यवहारस्य शास्त्रलोकोभयसि-

द्भत्वात्। न कृषिं न वाणिज्यामित्यनेन वणिजो वृत्तिद्वयत्यागाभिधानेन महाविपदि त्रैवर्णिका-नां गौणमुख्यसाधारणासंपदापत्कालीननिजवृत्ती-नां मध्ये कासांचिदप्यनवलम्बने प्रायश्चित्तोपदे-शेन भवन्ति पुनरनुगृहीतास्त्रैवर्णिकाः। एवं चाश्रमप्रणाशे व्यत्यासे वा वर्णव्यञ्जकवृत्तिविगमे वा व्रात्यस्तोमः सकलैनःक्षालनक्षम इति वैदि-कराजपथपथिकानामजिह्मा राजपद्धतिः॥ यदपि "किंचोपनयनसंस्कार आश्रमप्राप्तेर्द्वारं यथाऽऽ-धानं संस्कारो यज्ञद्वारम्। एवं च प्रागेव गृह-स्थाश्रमप्राप्तौ तदनुष्ठानवैफल्यं तत्प्राप्याश्रमाभा-वात्"॥ इति, तदेतत्प्रागेव दलितप्रायमपि विद्व-न्मनोमोदाय पुनरुपन्यस्यते तथा हि येषां क-र्मणां यथायथं पूर्वोत्तरभावः शास्त्रविहितस्तेषां तथैवानुष्ठानमपूर्वजनकमयथानुष्ठानं तु नादृष्ट-जनकं प्रत्युत प्रत्यवायजनकमिति विवक्षसि? उत पूर्वोत्तरभावापन्नकर्मणां व्यत्यासेनानुष्ठाने व्यत्यासनिमित्तमनुष्ठायापि प्रायश्चित्तं पुनस्तत्क-र्मानुष्ठाने पुरुषोनाधिक्रियते इति वदसि? तत्र

प्रथमे नास्माकमण्वपि विसंवादः अयथानुष्ठानस्य सर्वथाऽपि फलानुत्पादकत्वाद्विपरीतफलहेतुत्वाच्चेत्यस्य मयाऽप्यङ्गीकृतत्वात् । यदि तु द्वितीयः पक्षः कक्षीक्रियते तदा कोऽयमतिशयः, यदनुष्ठाय प्रायश्चित्तं विपर्यस्तकर्मानुष्ठाने पुरुषो याज्ञिकेषु कर्मस्वधिकुर्यान्न तु विवाहोत्तरमनुष्ठायापि विपर्यासनिमित्तकमहाप्रायश्चित्तं पुरुषो नोपनेयः स्यात् यथा हि अग्नीषोमीयस्य पूर्वं निर्वापावाहनादि अग्नेः पश्चात् एवं देवतानिर्वापे, यथा वाऽग्नीषोमीयादग्नेर्यागः आग्नेयादग्नीषोमीयस्य एवं हविर्विपर्यासे, यथा वा पुरोडाशे पूर्वं पूर्वार्द्धादवदानं ततो मध्यादित्यवदानविपर्यासे प्रमादाज्जाते क्रमविपर्ययजन्यं प्रायश्चित्तमनुष्ठाय पुनरङ्गानुष्ठानमेवमिहापि उपनयनविवाहयोर्व्यत्यासे व्यत्यासजन्यप्रायश्चित्तमनुष्ठाय पुनःकर्माधिकारितेति विवाहोत्तरमपि महाप्रायश्चित्तं व्रात्यस्तोमरूपमनुष्ठायोपनयनं युक्तमेव, अयं पुनर्विशेषो यद्विपर्यासे कर्मणां जाते आहवनीये सर्वप्रायश्चित्तहोमो न पुनरनुष्ठानं

कर्मणः पूर्वमेवानुष्ठितत्वेन कृतस्य पुनः करणा-
योगात्, कर्मविलोपे तु जाते कर्मविलोपजन्य-
प्रायश्चित्तमनुष्ठाय पुनस्तदनुष्ठानम् । एवमङ्गवै-
गुण्ये प्रधानकर्मान्तरानारम्भे च अङ्गवैगुण्यस्मृतौ
अङ्गवैगुण्यनिमित्तं प्रायश्चित्तं कृत्वा पुनरङ्गा-
नुष्ठानं, प्रधानकर्मान्तरारम्भे तु अङ्गवैगुण्यस्मृ-
तौ विष्णुस्मरणमेव प्रायश्चित्तमिति याज्ञिकसंप्र-
दायः। यदि तूपनयनस्य फलाश्रवणादध्ययनस्य
च फलश्रवणात् फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गमिति
न्यायेन उपनयनमध्ययनाङ्गमिति प्रधानमध्ययनं
तच्च ब्रह्मचर्यं जुषमाणेनानुष्ठेयमिति विवाहो-
त्तरं न कथंचिदपि ब्रह्मचर्यसंभवः तथापि
पञ्चषाणि अपत्यानि उत्पाद्य कीदृशं ब्रह्मचर्यं,
ततश्च " व्यापकनिवृत्त्या व्याप्यनिवृत्ति " रिति
न्यायेनाध्ययनव्यापकब्रह्मचर्यनिवृत्तौ भवत्यध्य-
यननिवृत्तिरुपनयनं चाध्ययनार्थमेवेत्यध्ययनासं-
भवे उपनयनमपि व्यर्थमेव, द्वारिलोपे हि
द्वारलोप आवश्यको यथा व्रीहीणामभावे कृष्णा-
लसंग्रहे कृष्णलेषु तुषाभावेन न तथावघातस्था-

स्त्वबोधितावघातप्रवृत्तिर्द्वारस्य तुषस्यैवासंभवात्
एवं चात्र द्वारिणो ब्रह्मचर्यस्य विलोपे द्वारस्यो-
पनयनस्य विलोप एव युक्तः । किंचानुपनयन-
दशायां विवाहे जाते ब्रह्मचर्याश्रमाश्रयणप्रयो-
जकोपनयनं भ्रष्टावसरमिति न पुनर्भवितुमर्हति
तस्माद्विवाहानन्तरं ब्रह्मचर्यासंभवात्कृतोद्वाहस्य
नोपनयनमिति युक्तम् । अत एव तु "ब्रह्मचारी
गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः । एते गृहस्थप्रभ-
वाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः ॥ सर्वेऽपि क्रमशस्त्वेते
यथाशास्त्रं निषेविताः । यथोक्तकारिणं विप्रं
नयन्ति परमां गतिम् ॥ इति स्मृत्या क्रमिका-
श्रमाश्रयणस्य परलोकसुखहेतुत्वमुच्यते न तु
यथेच्छमवलम्बितानां व्यत्यस्ताश्रमाणाम् । एव-
मेव तु " गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो
यथाविधि । उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां
लक्षणान्विताम् "॥ इति मनुर्ब्रह्मचर्योत्तरमेव
विवाहमाह । "वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा
ह्युभयमेव वा । अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां
स्त्रियमुद्वहेदिति " याज्ञवल्क्योऽपि ब्रह्मचर्या-

नन्तरमेव विवाहं धर्म्यमाह । किंच त्रैवर्णिका-
नामुपनयनात्पूर्वं नास्त्येवाधिकारः कुत्रापि
कर्मणि यथाह बौधायनः "नास्य कर्माणि कुर्वन्ति
किंचिदामौञ्जिबन्धनात् । वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष
यावद्वेदैर्न जायते" इति, एवमेव तु "त्रयाणा-
मानुलोम्यं स्यात्प्रातिलोम्यं न विद्यते । प्रातिलो-
म्येन यो याति न तस्मात्पापकृन्नरः" इति दक्षः
त्रयाणां ब्रह्मचर्येतरेषां गृहस्थवानस्थसंन्यासा-
श्रमाणाम् आनुलोम्यं शास्त्रोदितक्रमेणानुष्ठानं
न तु प्रातिलोम्यं, व्युत्क्रमेणानुष्ठानं महापापप्र-
योजकमित्यर्थः । ब्रह्मचर्यस्य सर्वाश्रमप्रकृतितया
तस्याश्रमान्तरावलम्बने हेतुत्वेन त्रयाणामेव
गृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमाणामुपादानं ब्रह्म-
चर्योत्तरमेवापरेषामधिकारात् । अत एव "ब्र-
ह्मचर्यं सर्वेषां समान" मित्याहापस्तम्बः ।
अथवा दक्षवचने आश्रमत्रयस्यानुलोम्याभिधानं
तेष्वेवानुलोम्यं त्रिषु न तु चतुर्थे संन्यासाश्र-
मेऽपीति बोधनाय "यदहरेव विरजेत तदहरेव
प्रव्रजे" दिति श्रुत्या वैराग्यस्यैव न्यासाधिकारिता-

प्रयोजकत्वोक्तेः । ब्रह्मचर्यावलम्बनं तु तत्राप्यपेक्ष्यते " ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वे " ति जावालश्रुतेरुक्तापस्तम्बस्मृतेश्चेत्याधुनिकानां निरयनिरन्तरनिवासनिदानं साहसमात्रमेव कृतोद्वाहस्योपनयनसमर्थनमित्युच्यते तदेतदनालोचितोचितवैदिकवर्त्मनां साहसिकतामात्रमेवेत्याचक्ष्महे तथा हि " न ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिं न वणिज्याम् " इत्यादिना ताण्ड्यब्राह्मणेन व्यत्यस्ताश्रमग्रहणानां त्यक्ताश्रमाचाराणां च संस्कार्यताया व्यवस्थापितत्वेनोद्वाहितानामसंस्कार्यत्वोक्तेरयुक्तेः । एतत्तत्त्वं तु प्रागेव न्यरूपयमित्याम्रेडनभियोदास्यते । यच्चोपनयनस्याध्ययनार्थतयाऽध्ययनस्य च ब्रह्मचर्यावस्थायामेवोक्तत्वेन कृतोद्वाहस्यापत्यव्रतोवचनसहस्रेणापि ब्रह्मचर्यं न शक्यं बोधयितुं बाधादिति न ह्येकादश्युपवासभङ्गे तद्दिने प्रायश्चित्तशतेनापि पुनरुपवासः कर्तुं शक्यः शक्यस्तु प्रायश्चित्तेन पापापनयः, एवं चेह व्रात्यस्तोमादिना ब्रह्मचर्याननुष्ठानजन्यं पातकमेव क्षय्यं न तु पुनर्भ्रष्टावसरं ब्रह्मचर्य-

मिति। सत्यमेतत् परं वयमपि न ब्रूमहे कृतो-द्वाहस्य सापत्यस्य वा प्रायश्चित्तानन्तरं ब्रह्मचर्यं विधेयमिति किन्तु वचनबलात्तस्य कृतप्रायश्चित्तस्योपनयनं गृह्यकर्मौपयिकमन्त्रोपदेशश्च कर्तव्य इति। न चाध्ययनार्थमेवोपनयनं वेदाध्ययनाधिकारशून्यानामपि गृह्यकर्मौपयिकमन्त्रोपदेशस्यापस्तम्बादिभिरुक्तत्वेन "यज्ञोपवीतिना भवितव्यं" "दक्षिणाचारेण भवितव्यमित्यादिप्रमाणेन सर्वाश्रमेष्वेवोपनयनस्यावश्यकत्वेनोपवीतस्य सर्वाश्रमनिर्वाहकत्वेन च ब्रह्मचर्यमात्रप्राप्त्यर्थताया अभावेन तथा वक्तुमशक्यत्वात्। न चाश्रमप्राप्त्यर्थतोपनयनस्य, "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत" इत्यादिश्रुतया, "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते" इति मानवस्मृत्या च उपनयनस्याध्ययनहेतुताया उक्तत्वेनाश्रमप्राप्तिं प्रति तस्यान्यथासिद्धेः। आश्रमप्राप्तावुपनयनस्य प्रयोजकत्वेऽपि न केवलं तस्य ब्रह्मचर्यनिर्वाहकत्वं किं त्वाश्रमान्तरनिर्वाहकता-

ऽप्युक्तस्मृतेरिति वृद्धव्रात्यानां व्रात्यस्तोमानुष्ठानक्षपितनिजकल्मषाणां यथाविधि गार्हस्थ्यनिर्वाहार्थमेवोपनयनप्रवृत्तेः। अत एव तु गृहस्थाश्रमवतामपि अधिकपातकोपनिपाते यज्ञोपवीतरूपपुनःसंस्कारकर्मणि प्रवृत्तिः, इतरथा तु तस्य ब्रह्मचर्यमात्रप्राप्त्यङ्गतया तस्य चानुष्ठितत्वेन विवाहानन्तरमनुष्ठातुमशक्यत्वेन च पुनः संस्कारे न प्रवर्त्तेरन् विशेषज्ञाः। यदि च तत्र पुनः संस्कारे वाचनिकी प्रवृत्तिरित्युच्यते तर्हि इहापि पूर्वोक्तताण्ड्यवाक्यसिद्धैव जनितापत्यानां वृद्धव्रात्यानां संस्कृतिरिति किं नश्छिन्नम्। अयं तु परं विशेषो यत्र अकृतविवाहस्योपनयनं तत्र तस्याध्ययनाङ्गत्वेनाध्ययनस्य च ब्रह्मचर्येऽनुष्ठेयतया तस्य ब्रह्मचर्यनिर्वाहकत्वं यत्र तु कृतविवाहस्य महापातकिनो वृद्धव्रात्यस्यानुष्ठितमहाप्रायश्चित्तस्योपनयनं तत्र तस्योपनयनेऽपि न वेदाध्ययनं किन्तु गृहस्थाश्रमस्वीकार एव। एतच्चापस्तम्बसूत्रे एव स्पष्टं निरूपितप्रायं चास्माभिरिति न पुनरभिधातुं सांप्रतम्। न च

विवाहब्रह्मचर्यव्युत्क्रम इति पुनःप्रायश्चित्तमनुष्ठायापि पुरुषो नाधिकुर्यादुपनयन इति सांप्रतम्। भ्रमप्रमादादिना यज्ञाधानसंस्कारमकृत्वा प्रथमतो यज्ञानुष्ठानं तत्र पुनर्विपर्ययस्मृतौ विपर्ययप्रायश्चित्तं कृत्वा यथा भवतोऽपि यज्ञानुष्ठानमिष्टम् एवमिह दौर्भाग्यवशात्प्रथमतो विवाहमनुष्ठाय पुनःसत्सङ्गेन लब्धसंज्ञः स्वात्मानमुपनिनीषुरसंस्कारजन्यं पातकं चापनिनीषुर्महाप्रायश्चित्तमनुष्ठाय संस्कार्यो भवत्येव सतामिति मया भवदुपदर्शितदृष्टान्तदृष्टरीत्यैव भवन्निग्रहस्य सुविधानत्वेन भवद्दोषस्य दूरापास्तत्वात्। अयं पुनर्विशेषो यदाधानं यज्ञाङ्गमिति आधानासत्त्वे न तत्र परमापूर्वसंभावना अङ्गापूर्वकूटेनैव परमापूर्वोत्पत्तेः शास्त्रसिद्धान्तसिद्धत्वादिति तत्राङ्गवैकल्योपस्थितौ अङ्गवैकल्यप्रायश्चित्तमनुष्ठाय पुनरङ्गानुष्ठानं ततश्चाङ्गिनोयज्ञस्य, अत्र तु ब्रह्मचर्यविवाहयोर्नाङ्गाङ्गिभावः किन्तु सर्वथाऽपि स्वातन्त्र्यमिति नैकस्य भ्रंशेनापरोऽपि भ्रंशनीय इति दुष्पक्षपातो युक्तः। न हि धनहीनेन

अतिथयो न सत्कृता इति पितरोऽपि पुत्रतो जलमात्रमुदीक्षमाणाः पुनर्जलसत्कारेण वञ्च-नीयाः। न हि बाल्ये गर्भे वा गर्भाधानजात-कर्मचौलादयो न संवृत्ता इति मौञ्जीबन्धनमपि विधुरयन्ति बुधाः। अत एवोपनयनपूर्वकर्मणां संस्काररूपाणां विपर्यये प्रहाणे वा प्रायश्चित्ता-हुतीर्हुत्वा पुनरुपनयन्ते इत्येष शास्त्रमर्यादा-पालकानां संप्रदायः। एवं चेह कृतविवाहस्यो-पनयने ब्रह्मचर्यविलोपनिमित्तं प्रायश्चित्तमेव न पुनराश्रमान्तरास्वीकारोऽपि ॥

इदं पुनरिहावधेयम् यत्रानुपनीतेन क्षत्रियवै-श्यादिना विवाहः कृतस्तत्र तस्य कतिधा प्रायश्चि-त्तपरिप्राप्तिरिति। तत्र पित्रोरसंस्कारनिमित्तमेकं स्वयं च समये अजातसंस्कारत्वाद् द्वितीयं ब्र-ह्मचर्यभ्रंशनिमित्तकं तृतीयं ब्रह्मचर्यगृहस्थाश्र-मयोर्विपर्यासजन्यं चतुर्थम् अनुपनयनसमये अपत्योत्पादनादिनानाविकर्मनिबन्धनं पञ्चमम् इति पञ्च प्रायश्चित्तानि विधेयानि। वस्तुतस्तु गुरुलघुपातकसमवाये गुरुपातकप्रायश्चित्तानु-

ष्ठानमेव विधेयं तेनैव लघुपातकनिवृत्तेः शास्त्रसिद्धत्वात् । यथा हि आशौचद्वयसंवलने गुरुभूताशौचेन लघुनश्चरितार्थता एवं प्रकृते पञ्चसु निरुक्तपापेषु गुरुभूतमभ्यस्यमानत्वाद् व्रात्यतापापं ब्रह्मचर्यविवाहयोर्विपर्ययजन्यं पातकं च, व्रात्यताया उपपातकमध्यपठितत्वेऽपि "उपपातकमभ्यस्तं महापातकवद् भवे" दिति स्मृत्या व्रात्यतापापस्य महापातकसमत्वसिद्धेः । "वैपरीत्येन यो याति न तस्मात्पापकृत्तमः" इति पूर्वोक्तस्मृत्या आश्रमविपर्ययस्यातिनिन्दितत्वाच्चेति द्वयोरेव प्रतिविधानाय प्रायश्चित्तमनुष्ठेयमितरेषां पापानां लघुतया तावतैव प्रणाशसंभवात् । यदि त्वभियुक्ता निरीक्षामहे तदा अभ्यस्यमानव्रात्यतैव सर्वतो गुर्वीति तत्प्रतिविधानेन सर्वपापापनोदनमित्येकमेव प्रायश्चित्तमिति सिध्यति ॥

अथ वृद्धव्रात्यानामनुपनयनसमये परिणीताः पत्न्यः संस्कृतेन सता किं त्याज्याः ? उत पुनर्विवाहेन संस्करणीयाः ? आहोस्वित्तासामपि

कश्चन शास्त्रोपदिष्टः प्रायश्चित्तविशेषः कर्त्तव्य.? इति जिज्ञासायां केचिदाहुः क्षत्रियजातीयस्त्रियाः वैश्यजातीयस्त्रियाश्च क्षत्रियवैश्याभ्यामसंस्कार-दशायां लौकिकोपभोगमात्रफलके जातेऽपि वि-विवाहे अपत्येषूत्पन्नेष्वपि च पुनस्तेनैव भर्त्रा यथाविधि कृतोपनयनादिसंस्कारेणाचरितमहा-प्रायश्चित्तेन विधितो विवाहः कर्तव्यः, न ह्य-संस्कारदशायां जातो लौकिकरीत्या विवाहो वस्तुतस्त्रैवर्णिकानामलौकिकगृहस्थाश्रमपरिग्रह-जन्यादृष्टजननाय धर्म्यसंतानसंपादनाय च पर्याप्तो वैवाहिकमन्त्रेष्वेव तादृशादृष्टविशेषनि-यामकतायाः शास्त्रसिद्धत्वात्ततश्च यथा दुष्यन्त-स्य क्षत्रियस्य शकुन्तलया पूर्वादृष्टाकृष्टघटनया सत्त्वविशेषोद्रेकावगमिताकारेङ्गितादिसाक्ष्येण प-रिणेयकुलगोत्रप्रवरपरिचयेन मिथःप्रेमसंबन्ध-निबन्धने निरतिशयसंपच्छीलौदार्यगुणगणाकर-भरतसंकाशापत्यसमुत्पत्तिफलके रहःसंबन्धे वृत्ते चिरं विलम्ब्यापि पुनर्वैवाहिको विधिरभूत्तथा प्रकृतेऽपि विवाहस्य पूर्वं विधितोऽसंपन्नत्वाज्जा-

तेऽप्यपत्ये संस्कारफलको विवाहो युज्यते, युक्तं चैतत् स्त्रीणां विवाहसंस्कारस्य पुरुषाणामुपनयनस्थलाभिषिक्ततया मुख्यत्वेन पुनस्तदनुष्ठानस्यावश्यकत्वादिति । तदेतल्लौकिकनिगडनिबद्धेभ्यो न रोचते लौकिका हि " सकृत् कन्या प्रदीयते " इति वचोबलमवष्टभ्य अविधितोऽपि वा नाम्नाऽपि कथंचिद्विवाहे वृत्ते तेनापि भर्त्रा पुनर्विवाहममङ्गलमस्वर्ग्यं लोकविद्विष्टं निरयनिदानं चाचक्षते ततश्च असंस्कारकाले जातस्य वैवाहिकस्य विधेरशास्त्रीयत्वात् तज्जन्यदुरदृष्टनिराकरणार्थं कथंचिदपि जातस्य वैवाहिकविधेः साङ्गतासिद्ध्यर्थं महाप्रायश्चित्तमनुष्ठेयमिति ब्रुवते एष एव पक्षोऽस्माकमप्यनुमतः, यतो विवाहो न लौकिको नाप्यलौकिक एव केवलं, किन्तु लौकिकालौकिकसंस्कारस्तथा च असंस्कारकाले कृतस्य विवाहस्य लौकिकफलहेतुतायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वादलौकिकांशसाधनायैव यतनीयं स चालौकिकोंऽशः प्रायश्चित्तेनापि सुशकः पूरयितुम् । यथाहुर्याज्ञिकाः " प्रायश्चित्ते कृते पश्चाद-

तीतमपि कर्म वै। कार्यमित्येक आचार्या नेत्यन्ये तु विपश्चितः" इति, ततश्चेयं व्यवस्था चौला-दीनां लौकिकात्मनाऽपि पूर्वमननुष्ठितानां प्रा-यश्चित्तमनुष्ठाय पुनरनुष्ठानमेव युक्तं तेषां शास्त्रीयत्वेऽपि केशवपनात्मकलौकिकांशस्यापि तत्रावर्जनीयानुष्ठानत्वेन तत्सिद्धिफलकपुनःसं-स्कारयत्नस्य तचोचितत्वात् एवं कर्णच्छेदादिष्वपि, अदृष्टमात्रफलके पुंसवनादौ तु कथंचित् स्ख-लिते तत्स्खलननिमित्तं प्रायश्चित्तमेव युक्तं न तु कर्मानुष्ठानमपि भ्रष्टावसरम्। "संस्कारा अति-पत्येरन् स्वकालाच्चेत्कथंचन। हुत्वैतदेव कर्तव्या ये तूपनयनादधः" इति कर्मप्रदीपवचनं तु संस्का-राणामुपनयनात्पूर्वमेवानुष्ठेयानां कथंचित्काला-तिपाते गौणकाले प्रायश्चित्ताहुतीर्हुत्वा पुनरनु-ष्ठानबोधकं न तु गौणमुख्यस्वीयकालातिपातेऽपि कर्मानुष्ठानबोधकं पूर्वोक्तवचनविरोधात् इहैव च "स्वकालाच्चेत्कथंचन" इति मुख्यकालातिक्र-मविशेषोक्तिवैयर्थ्याच्चेति शास्त्रतत्त्वविदः। एवं च यो यत्र लौकिकालौकिकोभयात्मकसंस्कारो-

लौकिकात्मना वृत्तः अलौकिकात्मना तु न संवृत्तस्तच्च अलौकिकांशपूर्तये प्रायश्चित्तमेव युक्तं न तु पुनरनुष्ठानमपि भ्रष्टावसरकर्मणः। एवं "प्रायश्चित्ते कृते पश्चादिति पूर्वोदितवचनस्थम् अतीतं कर्म कार्यमित्येके आचार्याः, न कार्यमिति तु विपश्चितः इत्युभयत्र स्वरसस्तूचकाचार्यविपश्चित्पदोपादानमपि युक्तमितरथा तु भ्रष्टावसरस्यातीतकर्मणोऽव्यवस्थितकार्यत्वाःकार्यत्वसमर्थनपरत्वे कथं तेजस्तिमिरसाहचर्यास्नानमिव विरुद्धपक्षद्वयकचीकरणं युज्येत शास्त्रकृतामिति मादृशामयमकपोलकल्पितः शास्त्रानुसारि युक्तिबलनिर्भासितः पन्थाः। यदपि "यस्य तूपनयनमेव नास्ति तस्य कदाचिदुपनीतत्वभ्रमेण विवाहेऽपि तदपत्ये न प्रायश्चित्तप्रवृत्तिर्नापि संस्कारस्त्रैवर्णिकत्वहानेः, असंस्कृतमातापितृजत्वात्। किंच व्यत्यये कर्मणां साम्यमिति सकलब्राह्मणसंस्कारवतां वृत्तिमात्रेण समस्य शूद्रतोक्ता तेन न्यायेन असंस्कृतजन्यस्य द्वितीयस्यैव शूद्रवृत्तिर्युक्ता। अत एव मनुना व्रात्योत्पन्नस्य

प्रतिलोमसंकरेषु कथनं विना प्रायश्चित्तमति-
क्रान्ते काले उपनयनव्रतां सर्वधर्मबहिष्कृता
इति स्मृत्या सकलद्विजातिकर्महान्या शूद्रवृत्तेरे-
व प्राप्त्या पञ्चमस्य शूद्रतैव, एतन्मूलकमेव का-
त्यायनापस्तम्बाभ्यां चतुर्थस्यैवोपनयनमुक्तं न प-
ञ्चमादीनमिति" तदेतदप्यत्यल्पं यतः कलिब-
लादिदानीं यथाकथंचिदप्युपनीतानामथवा
कदाचिदनुपनीतानामेव सुप्रसिद्धक्षत्रियवैश्यानां
तादृशेष्वेव क्षत्रियवैश्येषु अविसंवादियौनादि-
सर्वसंबन्धप्रवृत्तिदर्शनेन उपनीतत्वभ्रमस्य ववा-
हप्रयोजकत्वायुक्तेः। यच्च असंस्कृतपुरुषपत्ये
त्रैवर्णिकत्वहान्या प्रायश्चित्तानधिकारित्वस्य उ-
पनयनादिसंस्कारानधिकारित्वस्य चाभिधानं त-
देतदुन्मत्तजल्पितमेव कात्यायनापस्तम्बबौधा-
यनादिमहर्षिभिरसंस्कृतमातापितृजानां कण्ठ-
रवेणैव प्रायश्चित्तस्य संस्कार्यत्वस्य चाभिधानेन
तयोक्तेरत्यन्तासंगतत्वात्। असंस्कृतापत्यत्वस्य
त्रैवर्णिकत्वहानिसंपादकत्वाभिधानं तु संस्कारा-
णां त्रैवर्णिकत्वोत्पादप्रयोजकत्वभ्रमकृतमेव तच्च

न युक्तं संस्काराणां त्रैवर्णिकत्वनिर्वाहकत्वेऽपि त्रैवर्णिकानुष्ठेयत्वेऽपि च त्रैवर्णिकत्वोत्पादकताया: सर्वशास्त्रविरुद्धत्वात् । न हि यः कोऽपि स्वात्मानं संस्कृत्य त्रैवर्णिको भवितुमर्हति किन्तु त्रैवर्णिकाः सन्त एव संस्कारैर्जातकर्मचौलमौञ्जीबन्धैरपहतपाप्मानो विधीयन्ते अत एव तु भगवान्मनु "द्विजानामपमृज्यते" इति प्राह, युक्तं चैतत्कार्यकारणभावस्य पूर्वोत्तरकालवृत्तित्वनिर्वाह्यत्वेन सर्वत्रैवर्णिकानामेव च सतां द्विजानामपमृज्यते इति मनुना संस्कारोक्त्या संस्काराणां त्रैवर्णिकेषु गुणाधानहेतुत्वेऽपि त्रैवर्णिकत्वोत्पादकतायाः संस्कारेषु वक्तुमशक्यत्वात् ।
"तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद् ब्राह्मणकारकम् ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः"
इति व्याकरणभाष्यमपि तपःश्रुतयोर्न जातिब्राह्मण्यप्रयोजकतापरं किन्तु तद्विहीनस्य अनभिव्यक्तब्राह्मणतापरम्, अत एव तादृशस्य "जातिब्राह्मण एव सः" इत्यनेन तपःश्रुतवर्जितं जातिमात्रेणानभिव्यक्तं ब्राह्मण्यमुच्यते

न तु जातिच्युतिरपि तस्मादसंस्कृतमातापितृजत्वेन त्रैवर्णिकत्वहान्यभिधानं मन्दमनीषितमेवेति सुधियः स्वयमेव विमृशन्तु । व्रात्योत्पन्नस्य प्रतिलोमसंकरेषु गणनं तु मनोरुचितमेव तस्य सर्वधर्मानधिकारित्वान्न च तावता कृतप्रायश्चित्तस्य तस्य पुनरनुपनयनसिद्धिर्न ह्यकृतस्नानस्त्वेनाधिकारी पूजायां तर्हि कृतस्नानोऽपि नाधिकुर्यादिति युक्तं तस्माद् व्रात्योत्पन्नानां प्रतिलोमसंकरगणगणितत्वेन तेषामसंस्कार्यत्वाभिधानं बालसंमोहनमात्रमेव, यदपि "एवं चेहशविप्राणामप्युपनयनाभावः सिद्धः, अत एव "ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभेत त्रिपुरुषासोमपीथिनः । "आश्विनं धूम्रललाममालभेत योदुर्ब्राह्मणः सोमं पिपासेदिति श्रुतिश्चतुर्थपुरुषस्यैव प्रायश्चित्तेन सोमपानमाह न पञ्चमादेरधिकप्रायश्चित्तानुक्तेः । गोभिलोऽपि "सोमेन यक्ष्यमाणस्य यस्य पित्रादयस्त्रयो नेजिरे सोमयागेन स स्याद्विच्छिन्नसोमकः आलभेत स ऐन्द्राग्नमवशीर्णगवं पशुम् । यस्य वेदश्च वेदी

च विच्छिद्येते त्रिपौरुषम् । स वै दुर्ब्राह्मणो नाम यश्चैव वृषलीपतिः ॥ आलभेताश्विनं धूम्रललामं सत्वजं पशुमिति अत्र दुर्ब्राह्मण इति ब्राह्मणपदोपादानादीदृशान्यवर्णस्य सोमाभाव एवेति बोधितम्"। तदेतदपि वृथाशङ्कानिस्वनितं पूर्वोक्तहेतुकूटेन वक्ष्यमाणयुक्तिबलोपहितवचननिचयेन च त्रिपुरुषोर्द्ध्वपतितसावित्रीकाणां ब्राह्मणानामुपनेयत्वस्य ब्राह्मणव्रात्यसाधारण्येनापरेषामपि क्षत्रियवैश्यव्रात्यानामुपनेयत्वस्य चासकृदुपपादनेन त्रिपुरुषोर्द्ध्वपतितसावित्रीकाणां सोमाभावदृष्टान्तोपष्टम्भेन तथा वक्तुमयुक्तत्वात्। वस्तुतस्तु त्रिपदत्वेऽपि पूर्वोपदर्शितरीत्या चतुराद्युपग्रहस्य निर्व्वाधतया दृष्टान्त एवासिद्ध इति किं तेन साधितं स्यात्। अत एव त्वधुनाऽपि केचित्सोमं पिबन्ति अन्यथा तु त्रिपुरुषाविच्छिन्नसोमपानसंप्रदायस्यासेतुहेमाचलमसत्त्वात्केषामपि गौडदाक्षिणात्यानां सोमपानं न शास्त्रीयमिति सांप्रतिकसोमसंप्रदाय एव उच्छिद्येतेति बरं त्रिप-

दसत्त्वेऽपि चतुराद्युपग्रहस्य यौक्तिकस्य कष्टी-
करणमित्यकिंचिदेतत्। मच्छिष्यास्तु पूर्वोक्त-
श्रुतिस्थं त्रिपदं न त्रित्वावच्छिन्नपरं किं त्वनेक-
परमत एव शाखान्तरे "यस्य पिता पितामहो वा ऽसोमपीथी स ऐन्द्राग्न" मिति श्रुत्या द्विपुरुषासोमपीथिनोऽपीदमेव प्रायश्चित्तमाम्नायते।
अत एव कार्ष्णाजिनिः। "अनाहिताग्नौ पित्रादौ यक्ष्यमाणः सुतो यदि" इति स्मृतौ पित्रादावित्युक्तवानिति प्राहुः। युक्तं चैतत्तथा-
सति पूर्वोक्तश्रुतिद्वयस्यैकार्थ्यसंभवात्प्रचलितस्य सोमसंप्रदायस्यापि संरक्षणसंभवाच्च। न चादि-
पदघटितस्थले त्रय एव गृह्यन्त इति नियमस्तस्य कपिञ्जलन्यायार्थावसर एवास्माभिर्बहुधा निराकृत-
त्वात्। न चापि श्रुतौ साक्षात् पितृपितामह-
प्रपितामहानामेव श्रूयमाणत्वात् स्मृतिस्थस्यादि-
पदस्य पित्रादित्रयाधिकपरत्वे श्रुत्यर्थोपरोध इति वाच्यम्। न हि श्रुतिर्यस्य पिता पितामहः
प्रपितामहो वा सोमं न पीतवानिति वदन्ती अन्यूनानतिरिक्तत्रित्वावच्छिन्नपरा स्यात्तथा सति

शाखान्तरे "यस्य पिता पितामहो वाऽसोम-
पीथो इति द्वयोरेवासोमपत्वे प्रायश्चित्तमभिद-
धानया श्रुत्या अवश्यमुपरुध्येत यदि च त्रया-
णामसोमपत्वे प्रायश्चित्तमभिदधती श्रुतिर्द्वयो-
रसोमपाने प्रायश्चित्तमुपदिशत्या श्रुत्या न
विप्रक्रियते किन्तु पुनरनुगृह्यत एवेति ब्रूथ
तदा कोऽयमतिशयो यदेषा न्यूनानामसोमपत्वे
प्रायश्चित्तमुपदिशत्या अविप्रकृताऽप्यधिकाना-
मसोमपत्वे प्रायश्चित्तमुपदिशत्या विप्रकृता स्या-
दिति, यदि तु श्रुतिस्थं त्रिपदमधिकसंख्या-
व्यवच्छेदफलकमेव न तु न्यूनसंख्याव्यवच्छेदफ-
लकमित्युच्यते तदा कुत एतदवधारितमित्यु-
च्यतां स्थलविशेषे संख्यावाचकशब्दानां कदा-
चित्प्रकरणादिवशान्न्यूनसंख्यानिषेधकत्वं कदा-
चिदधिकसंख्याव्यवच्छेदफलकत्वं कदाचिन्न्यूना-
धिकोभयसंख्याव्यवच्छेदफलकत्वमित्यस्य वैचि-
त्र्यस्य नियामकविशेषप्रयोज्यत्वेन प्रकृतश्रु-
तिस्थत्रिपदस्य यदधिकसंख्याव्यवच्छेदफलक-
त्वं न न्यूनसंख्याव्यवच्छेदकत्वमिति सहेतुक-

मेव वक्तव्यम् । किं च त्रिपदघटितवाक्यस्थ-
तादृशपदस्याधिकसंख्याव्यवच्छेदकत्वे तद्दृष्टा-
न्तेन द्विपदघटितवाक्यस्थलेऽपि तस्याधिकसं-
ख्याव्यवच्छेदसिद्धिफलकत्वमेव वक्तव्यमिति श्रु-
तिद्वयस्थतादृशपदानामपीतसोमतादृशानेकपुरु-
षपरत्वकल्पनायां लाघवमिति भवत्याधुनि-
कसोमसंप्रदायस्यापि रक्षणमिति निपुणतरम् ।
श्रुतेरपीतसोमानेकपुरुषपरत्वे त्रिच्यादिपदमनु-
पदाय अनेकपदमेवोपादेयमिति तु क्षुद्रशङ्कितं
तथा सति कमिकदोषवृद्धेरलाभेन तथोक्तेरपेक्ष-
णात् । एवं च यथायथमधिकपुरुषाणामपीतसो-
मत्वे प्रायश्चित्ताधिक्यमेव याज्ञवल्क्योक्तरीत्या-
कल्पनीयम् अत एव तु कचित् पित्रादिपदेन क-
चित् पिता पितामहः इत्यादि विशिष्याभिहित-
मिति वाक्यार्थमर्यादानिपुणाः स्वयमेव सुसूक्ष्म-
मीक्षन्ताम् । यदि त्वभियुक्ता निरीक्षामहे
तदा संप्रत्यग्निहोत्राननुष्ठानजन्यव्रात्यता नास्त्येव
यथोक्तं संन्यासपद्धतौ व्यासवाक्यम् । "चत्वा-
र्यब्दसहस्राणि चत्वार्यब्दशतानि च । कलेर्यदा

गमिष्यन्ति तदा त्रेताऽपरिग्रहः । संन्यासश्च न कर्त्तव्यो ब्राह्मणेन विजानते" ति, एवं चाग्नेरपरिग्रह एव सांप्रतं संन्यासोऽप्यननुष्ठेय एव कलिबलान्न्यासाग्निहोत्रधर्माणामनुष्ठातुमशक्यत्वात्, इदं पुनरिह रहस्यं नेदं न्यासाग्निहोत्रप्रतिषेधकं वचनं तथा सत्यभक्ष्यभक्षणादाविव कलौ न्यासाग्निहोत्रावलम्बने प्रत्यवायप्रसङ्गात्किन्तु न्यासमुख्यनिदानस्योत्कटज्ञानवैराग्यादेः कलावतिवैरल्येनासिद्धस्य संन्यासस्य निषेधोऽनुवादमात्रमथवा अविपक्वकषायाणां केषांचित्क्षणिकज्ञानवैराग्यवतां हठात्संन्यासे प्रवृत्तानां निषेधकमेव न तु सामान्यतोऽपि न्यासप्रतिषेधपरमधुनाऽपि केषांचित्तीव्रवैराग्ययोगेन न्यासदर्शनात्तस्य च शिष्टैरविगीतत्वेनानुपास्यत्वदर्शनाच्च । एवमग्निहोत्रमपि प्रत्यवायबहुलमिति नाधुनिकैर्निर्विघ्नं कर्तुं शक्यमित्यप्राप्तस्य अग्निहोत्रस्य निषेधोऽनुवादमात्रमत एवाधुनाऽपि केचनवैदिकक्रियापरायणाः श्रद्धावन्तोभाग्यभाजोऽनुतिष्ठन्त्येवोपासनामम्नीमाम् । एवमेव तु

"यावद्वर्णविभागोऽस्ति यावद्वेदः प्रवर्त्तते । अग्निहोत्रं च संन्यासं तावत्कुर्यात्कलौ युगे" ॥ इति देवलः, अधुना हि वर्णाः केवलं जात्यैव विभज्यन्ते न तु वर्णनियताचारैः, न चापि वेदाः सांप्रतं तदुक्तार्थानुष्ठानादिद्वारा प्रवर्त्तन्त इति वेदानामप्यप्रवृत्तिरेवेति नाग्निहोत्राधिकार आधुनिकत्रैवर्णिकानां ततश्च तन्नियते सोमपानेऽप्यनधिकार एव यश्च यत्रानधिकारी स तदकुर्वाणो न पतति यथा अशुचिः सन्ध्यायाम् एवं चाधुनिकानां त्रिपुरुषापीतसोमत्वेऽपि न दौर्ब्राह्मण्यमिति आश्विनपशोरनुष्ठानं सोमे वाचनिकमेव युगान्तरे तु त्रिपुरुषापीतसोमानामनग्निकानां च व्रात्यतैव एवं च युगह्रासानुरूपतया धर्मोपदेशस्य शास्त्रेषूपलम्भान्नैष त्रिपुरुषापीतसोमदृष्टान्तः कलौ त्रिपुरुषाधिकपतितसावित्रीकाणां त्रैवर्णिकानामनुपनेयताप्रसाधकः प्रत्युतोपनेयत्वानुग्राहक एव । यथा हि कलौ सोमाग्निहोत्राद्यननुष्ठाने प्रत्यवायाल्पीयस्त्वं प्रत्यवायाभावो वा एवं व्रात्यतादि-

पापेष्वपि कलौ प्रायश्चित्तादिसंकोचः पापानां पातकत्वशक्तेर्ह्रासो वाऽवश्यं सोमन्यायेन कल्पनीय इति सोमन्यायो न नागेशार्थसाधक इति सुपुष्कलम् । अत्रेदमप्यवधेयं वृषलीपतेस्त्रिपुरुषाधिकपतितसावित्रीकस्य च समानमेव दौर्ब्राह्मण्यमिति कस्य हेतोरेकः प्रायश्चित्तमनुष्ठाय यज्ञेऽधिकुर्यादपरस्तु न तथेति वक्तव्यं किंच कलौ त्रेताऽपरिग्रहो यदि नानधिकारितामापादयेत्तर्हि अनाधानजन्यपापस्य युगान्तरे त्रिपुरुषपर्यन्तमेव प्रायश्चित्तापनोद्यत्वं तत ऊर्ध्वं तु प्रायश्चित्तशतेनापि न निष्कृतिरिति चित्रैव कल्पना । अन्यत्यो विशेषस्तु प्रसङ्गतस्तत्र तत्र बहुधा निरूपित इति तत्र तत्रावधानेनैवावधेय इति विदाङ्कुर्वन्तु विद्वांस इति शम् ॥

॥ ओं श्रीः ॥

तदेवं व्यवस्थापिते त्रिपुरुषोर्द्ध्वपतितसावित्रीका- यामपि ब्रह्मक्षत्रियविशां संस्कार्यत्वे, केचिद- नादिद्विजद्रोहदहनदग्धचेतसः सांप्रतं निष्क्षत्र- वैश्यमिदं सकलं जगदाचक्षते व्याचक्षते चान्य- थैव स्मृतिपुराणवचनजातं, तेऽमी सांप्रदायिका- क्षरस्वरसलब्धस्मृतिपुराणार्थनिरूपणपुरःसरं व्यु- दस्यन्ते, तत्रादौ नन्दानन्तरमाकृतयुगादयं कलिकाल एतद्ब्रह्माण्डावच्छेदेन देवापिम- रुतत्परिणेयपत्नीव्यतिरिक्तागौणक्षत्रियसत्तावा- न्नवेति विप्रतिपत्तिः। एवं नन्दानन्तरमाकृतयु- गादयं कलिकाल एतद्ब्रह्माण्डावच्छेदेन दे- वापिमरुपरिणेयवैश्यकन्यातिरिक्तागौणवैश्यसत्ता- वान्नवेति प्रत्येकं विप्रतिपत्तिः। अथवा नन्दा- नन्तरमाकृतयुगादयं काल एतद्ब्रह्माण्डावच्छे- देन देवापिमरुतत्परिणेयक्षत्रियवैश्यकन्यातिरि- क्तब्राह्मणभिन्नागौणद्विजसत्तावान्नवेत्येकैव वि-

प्रतिपत्तिः, तत्र विधिकोटिश्चातुर्वर्ण्यरक्षणविच-
क्षणस्य निषेधकोटिः प्रतिपक्षस्य । विप्रतिपत्तिवा-
क्यस्थपदव्यावृत्तिस्तु विस्तरभयादुपेक्ष्यते, तत्र
कलिकाले यथा कालमहिम्ना यमनियमदा-
नव्रततपश्चर्याऽध्ययनादिना क्षामा अपि, द-
म्भाहङ्कारजिघांसाऽसूयाऽसहिष्णुत्वादिशीलशा-
लिनोऽपि, कुलक्रमागता विशुद्धप्रसूतयो ब्रा-
ह्मणाः सुलभाः, सुलभाश्च केचिदपि शास्त्र-
परायणा धर्मभीरवोलोकहिते रता विरताश्च
यथासंभवं पापकर्मभ्यो विप्रकुलालङ्करणा-
यिताः, येषां सद्भावेनेयं भारतभूर्विभ्रियते
तथा सन्ति केऽपि क्षत्रिया वैश्याश्चापि जन्मना
विशुद्धवंशजाः कर्मणा च समयानुरूपमनुरूपाः ।
तत्र प्रमाणं तु कलिधर्मनिरूपणैदम्पर्येण प्र-
वृत्ता पाराशरी स्मृतिः,तथा हि एकादशे ऽध्याये
प्रायश्चित्तनिरूपणावसरे "अमेध्यरेतो गोमासं
चाण्डालान्नमथापि वा । यदि भुक्तं तु विप्रेण
कृच्छ्रचान्द्रायणं चरेत् ॥ १ ॥ तथैव क्षत्रियो
वैश्यस्तदर्द्धं तु समाचरेत् ॥ २ ॥ तत्रैवाध्याये

पुनः "शूद्रोऽप्यभोज्यं भुक्त्वाऽन्नं पञ्चगव्येन शुध्यति। क्षत्रियो वापि वैश्यश्च प्राजापत्येन शुध्यति" ॥ ७ ॥ इति, तत्रैवाध्याये "क्षत्रियो वापि वैश्यो वा क्रियावन्तौ शुचिव्रतौ। तद्गृहेषु द्विजैर्भोज्यं हव्यकव्येषु नित्यशः ॥ १३ ॥ इति, पुनश्च तत्रैव, "अज्ञानाद् भुञ्जते विप्राः सूतके मृतकेऽपि वा। प्रायश्चित्तं कथं तेषां वर्णे वर्णे विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥ इति प्रश्ने ॥ "गायत्र्यष्टसहस्रेण शुद्धः स्याच्छूद्रसूतके। वैश्यः पञ्चसहस्रेण त्रिसहस्रेण क्षत्रिये ॥ १६ ॥ ब्राह्मणस्य सदा भुङ्क्ते प्राणायामेन शुध्यति। अथवा वामदेव्येन साम्ना चैकेन शुद्ध्यति ॥ १७ ॥ शुष्कान्नं गोरसं स्नेहं शूद्रवेश्मन आगतम्। पक्वं विप्रगृहे पूतं भोज्यं तन्मनुरब्रवीत् ॥ १८ ॥ आपत्काले तु विप्रेण भुक्तं शूद्रगृहे यदि। मनस्तापेन शुद्ध्येत्तु द्रुपदां वा शतं जपेत् ॥ १९ ॥ दासनापितगोपालकुलमित्रार्द्धसीरिणः। एते शूद्रेषु भोज्यान्ना यश्चात्मानं निवेदयेत्" ॥ २० ॥ पुनरप्यत्राध्याये "भाण्डस्थितमभोज्येषु जलं

दधि घृतं पयः । अकामतस्तु योभुङ्क्ते प्रायश्चित्तं कथं भवेत् ॥ २४ ॥ ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वाऽप्युपसर्पति । ब्रह्मकूर्चोपवासेन यथा वर्णस्य निष्कृतिः ॥ २५ ॥ शूद्राणां नोपवासः स्याच्छूद्रो दानेन शुद्ध्यति । ब्रह्मकूर्चमहोरात्रं श्वपाकमपि शोधयेत्" ॥ २६ ॥ इति, तत्रैव स्मृतौ पुनर्द्वादशाध्याये " अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरां वा पिबते यदि । पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः ॥ २ ॥ अजिनं मेखला दण्डो भैक्षचर्याव्रतानि च । निवर्तन्ते द्विजातीनां पुनस्संस्कारकर्मणि ॥ ३ ॥ स्त्रीशूद्रस्य तु शुद्ध्यर्थं प्राजापत्यं विधीयते । पञ्चगव्यं ततः कृत्वा स्नात्वा पीत्वा विशुद्ध्यति " ॥ ४ ॥ इत्येवमादिवचनजातं संस्फुटं क्षत्रियवैश्यकुलसत्तां कलावपि प्रत्याययति कथमन्यथा तेषां कलावसत्वे पार्थक्येन क्षत्रियवैश्यानामाचारप्रायश्चित्ताशौचादिनिरूपणं साक्षात्कृतपदार्थसार्थसारस्य महर्षेः पराशरस्य संगच्छताम् । न चात्र क्षत्रियवैश्यपदेन क्षत्रियवैश्याचारा ब्राह्मणा एव

गृह्यन्त इत्यत्यन्तमुदक्षरं शङ्कनीयं तथासति कलौ चातुर्वर्ण्यानङ्गीकारेण ब्राह्मणशूद्रयोर्द्वयोरेव सर्ववर्णविश्रान्त्या पराशरद्वितीयाध्याये "अतः परं गृहस्थस्य धर्माचारं कलौ युगे। धर्मं साधारणं शक्यं चातुर्वर्ण्याश्रमागतम् ॥ १ ॥ संप्रवक्ष्याम्यहं भूयः पाराशर्यप्रचोदितः" ॥ इत्येवं चातुर्वर्ण्यधर्मनिरूपणप्रतिज्ञाया असंगतत्वापत्तेः। एवं "चातुर्वर्ण्यसमाचारं शृणुध्वं मुनिपुङ्गवाः। पराशरमतं पुण्यं पवित्रं पापनाशनम्" ॥ १ ॥ इति प्रथमाध्याये पञ्चविंशत्तमश्लोकोऽप्युपरुध्येत कलौ चातुर्वर्ण्यस्य ब्राह्मणवैश्ययोरेव विश्रान्तिकल्पनायां, न हि ब्राह्मणा एव क्षत्रियवैश्याचारा इति चातुर्वर्ण्यवचनकदर्थनं युज्यतेऽन्यथा तु ब्राह्मणा एव केचिच्छूद्राचारा इति कृतं ते शूद्रकल्पनयाऽपीत्येकवर्णशेष एव कृतः स्यादिति न किंचिदेतत्। किंच युगान्तरोक्तस्वस्वधर्मानुष्ठानाशक्ता ब्रह्मक्षत्रविशः कलावल्पप्रायश्चित्तसुकराचाराद्युपदेशेन भगवता पराशरेणानुगृह्यन्त इह स्मृतौ

न तु क्षत्रियवैश्याचाराः परित्यक्तस्वधर्माणो ब्राह्मणा एवाधमाः सन्तः पुनरुपदिश्यन्तेऽधमयितुं क्षत्रियवैश्याद्याचारजातं, किन्तु शुचिव्रताः सोमसूर्यवंशजाः क्षत्रियाः, गर्गादिकुलप्रभवा विशुद्धा वैश्याश्च बोध्यन्ते कलिकालानुष्ठेयमुख्यस्वस्वाचारजातम्, अत एव तु, "क्षत्रियो वापि वैश्यो वा क्रियावन्तौ शुचिव्रतौ। तद्गृहेषु द्विजैर्भोज्यं हव्यकव्येषु नित्यशः" "इतीहैव पराशरः स्पष्टं शुच्याचारक्षत्रियवैश्यगृहे ब्राह्मणानां हव्यकव्येषु भोजनमनुमन्यते, त्वदुक्तरीत्या, अधमा ब्राह्मणा एव क्षत्रियवैश्या इति क्रियावन्तौ शुचिव्रतौ " इति ऋषेरभिधानमत्यन्तमुपमर्दितं स्यात्, भवेच्चात्यन्तोपमर्दो द्वादशाध्यायीयस्य " अज्ञानात्प्राश्य विण्मूत्रं सुरां वा पिबते यदि। पुनः संस्कारमर्हन्ति त्रयो वर्णा द्विजातयः "॥ २॥ इति वचनस्य, न ह्येकस्यैव ब्राह्मणवर्णस्य मध्यमोत्तमाधमभावमादाय त्रयो वर्णा द्विजातयः इति वर्णत्रैविध्याभिधानं घटेतेत्यलमेतेनासदावेशेनेति शम्॥

यद्यपि पराशरस्मृतिस्थक्षत्रियवैश्याचारप्रायश्चि-त्तादिबोधकवचनजातं न सांप्रतिकघोरकलिकालार्थं किन्तु श्रीकृष्णस्य भगवतः सनातनस्य चरणस्पर्शवैधुर्यमुपगतायां भुवि प्रादुर्भूतस्वदुर्महिम्नोऽप्यनालम्बितकठोरभावस्य परीक्षिद्राज्यकालमारभ्य कलेर्यावन्न किंचिदुत्तरसहस्रवार्षिकी भोगस्तावत्कालं सुमित्रक्षेमकरिपुञ्जयाद्युत्पत्तिपर्यन्तमेव विशुद्धक्षत्रियादिवंशप्रचार इति तत्पर्यन्तमेव क्षत्रियादिप्रायश्चित्तनिर्णायकतया पराशरस्मृतेः सार्थक्ये नेदानीं ततः क्षत्रियवैश्यसत्तावगतिरिति. तदेतदनालोचितस्मृतिपुराणशास्त्राणां दुर्भणितमेव असति बलवत्तरप्रमाणे सामान्यप्रवृत्तायाः पराशरस्मृतेः परीक्षिद्राज्यकालमारभ्य क्षेमकादिकालपर्यन्तमेव प्रवृत्तौ मानाभावात् ब्राह्मणशूद्रयोराचारप्रायश्चित्तादिनिर्णयार्थमधुनापि तत्प्रामाण्याङ्गीकारे क्षत्रियवैश्ययोर्विषये तदप्रामाण्ये मानाभावाच्च। किंच पारीक्षितेन जनमेजयेन अश्वमेधसमये आध्वर्यवमात्राधिकारिणो वाजसनेयका ब्रह्मत्वादि-

सर्वकर्मसु वृतास्तेन चासंतुष्टो वैशम्पायनः शशाप राजानं जनमेजयं यथोक्तं मात्स्ये पञ्चाशत्तमेऽध्याये "जनमेजयः परीक्षितः पुत्रः परमधार्मिकः। ब्रह्माणं कल्पयामास स वै वाजसनेयकम् ॥ ७॥ स वैशम्पायनेनैव शप्तः किल महर्षिणा । न स्थास्यतीह दुर्बुद्धे तवैतद्वचनं भुवि ॥ ७ ॥ यावत्स्थास्यसि त्वं लोके तावदेव प्रपत्स्यति । क्षत्रस्य विजयं ज्ञात्वा ततः प्रभृति सर्वशः ॥ ८ ॥ अभिगम्य स्थिताश्चैव नृपं च जनमेजयम् । ततः प्रभृति शापेन क्षत्रियस्य तु याजिनः । उत्सन्ना याजिनो यज्ञे ततः प्रभृति सर्वशः ॥ ६१ ॥ क्षत्रस्य याजिनः केचित् शापात्तस्य महात्मनः । पौर्णमासेन हविषा इष्ट्वा तस्मिन्प्रजापतिम् । स वैशम्पायनेनैव प्रविशन् वारितस्ततः ॥ ६२ ॥ परीक्षितः सुतः सो वै पौरवो जनमेजयः । द्विरश्वमेधमाहृत्य महावाजसनेयकः ॥ ६३ ॥ प्रवर्तयित्वा तं सर्वमृषिं वाजसनेयकम् । विवादे ब्राह्मणैः सार्द्धमभिशप्तो वनं ययौ ॥ ६४ ॥ इति, स्पष्टमिदमेतेन यज्जनमेजयादिसमयपर्यन्तमश्व-

मेधादिमहायज्ञाहूतिः प्रावर्तत प्रावर्तत च कलि-
निषिद्धोऽपि वानप्रस्थाश्रम इति न तत्पर्यन्तं कलि
वर्ज्यप्रकरणोक्तहेयोपादेयधर्मानुष्ठानप्रवृत्तिरा -
सीत् । जनमेजयेन, तत्पुत्रेण शतानीकेन, तत्पु-
त्रेणाधिसोमकृष्णेन चासकृदेवाश्वमेधादियज्ञाहू-
तेरनुष्ठीयमानत्वात् । अश्वमेधादेश्च प्रबले कलौ
निषेधात् किं तु क्षेमकानन्तरकाले एव,यत्ननिषेधः
तं चाधिकृत्य कार्लं पराशरमाधवीये पुराणवचनं
" ब्राह्मणादिषु शूद्रस्य पचनादिक्रियाऽपि च।
भृग्वग्निपतनाद्यैश्च वृद्धादिमरणं तथा " इति,
ततश्च महाकलिप्रवृत्त्यनन्तरं यदि ब्राह्मणाः शू-
द्राश्चेति वर्णद्वयमेव न तु क्षत्रिया वैश्याश्च तदा
" ब्राह्मणादिषु " इत्यादिशब्देन किमुपादेयं
स्यान्न हीह ब्राह्मणव्यक्तिबहुत्वेनादिशब्दसार्थक्य-
संभावना आदिशब्दस्यैवंविधस्थले ब्राह्मणत्वेत-
रवर्णत्वसाक्षाद्व्याप्यधर्मावच्छिन्नबोधकत्वस्याजा-
निकसंकेतसिद्धतया तस्याऽतथाभावस्य सुरगुरु-
णाऽप्ययथाकर्तुमशक्यत्वात् । तदिहादिपदं वर्त्त-
मानकाले क्षत्रियवैश्यवर्णसत्तां बोधयतीति शा-

स्त्रतत्त्वार्थविदः ॥ अथ स्मृतीनां पुराणापेक्षया बलवत्तरताया वचनप्रामाण्यनिरूपणावसरे मीमांसादिशास्त्रेषु व्यवस्थापितत्वेऽपि यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायेन वंशानुचरितलौकिकाख्यानगोत्रादिपरम्परानिरूपणे पुराणानां स्मृत्यपेक्षयाऽपि प्रामाण्यं रक्षणीयमिति कथं पाराशर्याः स्मृतेः कलौ क्षत्रियवैश्याद्यभावबोधकबहुतरपुराणवाक्यविसंवादिन्यास्तत्र विषये प्रामाण्यमवकल्पेत, पाराशर्याः कलिप्राबल्यकालात्पूर्वमलब्धपदे कलौ क्षत्रियवैश्याचारबोधकतयाऽपि निर्वाहेण तस्याः सांप्रतं प्रबलकलौ क्षत्रियादिसत्त्वासाधकत्वमित्यकिंचिदिदम् । निरुक्तादिपदोपादानवैयर्थ्यशङ्कायाश्च बलवत्तरबहुतरविरोधिप्रमाणसंप्लवेऽन्यथयितुमपि शक्यत्वेनासाधकत्वाच्चेति चेदत्र ब्रूमः किं तदस्ति प्रमाणं यत्कलौ क्षत्रियाद्यभावसाधकं ? यदि, अभिमन्युपुत्रस्यार्जुनपौत्रस्य महाभागवतपरीक्षितो राज्यकाले मैत्रेयं प्रति पराशरेणोपदिष्टे विष्णुपुराणे तात्कालिकं सोमवंश्यं परीक्षितमार-

भ्य तस्मिन्वंशे भविष्यतो निरमित्रान्तानभिधाय "तस्माच्च क्षेमकः तत्रायं श्लोकः, ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिर्वंशो देवर्षिसत्कृतः। क्षेमकं प्राप्य राजानं स संस्थां प्राप्स्यते कलौ" इत्युक्तं तदेव सोमवंशसमाप्तौ प्रमाणमिति भ्राम्यसि तर्हि अपरिचितलोकयाचोऽनभिलक्षितपदपदार्थसंबन्धोयथाश्रुतप्रतिपत्ताऽसि न ह्यत्र वंशनाशोऽभिधित्सितः किन्तु ब्रह्मक्षत्रपदयोर्भावप्रधाननिर्देशत्वेन ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वबोधकतया सदाचाराऽध्ययनादिनिबन्धनब्राह्मणत्वस्य धर्मानुष्ठानप्रजापालनादिनिबन्धनक्षत्रियत्वस्य च यो योनिर्नाम निर्वाहको यः सोमवंशः सोऽयं निर्वाहकतासंबन्धेन निरुक्तब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वरूपधर्मावच्छिन्नः क्षेमकं प्राप्य क्षेमकोत्पत्त्यनन्तरं क्षेमके राज्यं प्रशासत्येव विनाशमुपैष्यतीत्ययमर्थोऽबुबोधयिषितः, स हि "सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः सति विशेष्ये बाधे" इति न्यायेन पूर्वोक्तब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वनिर्वाहकताहशगुणविनाश एव पर्यवस्यति न हि

वंशशिरोधरे क्षेमके पारीक्षितवंश्येषु क्षेमकभि-
न्नेषु इतरेषु च म्रियमाणेषु विशेष्यभूतस्य वंशस्य
नाशः प्रामाणिकः, यतः परीक्षितमारभ्य क्षेम-
कपर्यन्तमष्टाविंशतिसंख्याकाः पुरुषा अभूवन्
विष्णुपुराणाद्युक्तरीत्या तत्र चैकस्य एक एवाभू-
त्पुत्र इति न शक्यं कल्पयितुं परीक्षित एव
चत्वारोऽभूवन्पुत्राः जनमेजयश्रुतसेनोग्रसेनभी-
मसेनाः, ततश्चैतावत्सु महापुरुषेषु बहुभार्येषु
राजपुत्रेषु क्षेमकसमये एकमात्रः स एवावशि-
शिष इति पुनरत्यन्तमश्रद्धेयैव कुकल्पनेति न
तथार्थकदर्थनं युक्तम् । न चान्तरालिकेषु
पारीक्षितवंश्येषु परीक्षितमपहायापरेषां नाऽने-
केऽभिहिताः पुत्राः किंत्वेकैक एवेति क्षेमकमात्रा-
वशिषवंशकल्पना क्षेमकसमये न दुःसंभवेति
शङ्कनीयम् वंशनिरूपणावसरे आदिभूतस्य
सुप्रसिद्धकूटस्थपुरुषस्यैव शाखा उद्दिश्यन्ते न
पुनरान्तरालिक्यः सर्वाः शाखाः प्रशाखाश्च,
अखिलीकृत्य वंशस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् अत
एव भगवान् पराशरः " एष तूद्देशतो वंशस्त-

प्रोक्तो भूभुजां मया निखिलो गदितुं शक्यो नैव जन्मशतैरपि ” इति प्राह पुराणरत्ने, पुनश्च स एव “ बहुत्वान्नामधेयानां परिसंख्या कुले कुले पुनरुक्तबहुत्वान्न मया परिकीर्तिता ” इत्यवोचत्। तस्मात् क्षेमकसमये परीक्षिद्वंशप्रभवानामन्येषामपि सत्त्वात् क्षेमकान्तो वंशः पारीक्षित इत्यस्य परीक्षिद्वंशकीर्तिस्थितिः क्षेमकेणावसानमेष्यतीत्यर्थः, यथा चन्द्रं प्राप्य तमांसि लीयन्ते इत्यादौ चन्द्रोदये सति तमोविलयो विवक्षितः, यथा वा उपरागं प्राप्य नद्यो गङ्गासमाः सर्वाः, इत्यादौ चन्द्राद्युपरागसमये नद्य पवित्रा इत्ययमर्थस्तथैवेहापि क्षेमकसमये चन्द्रवंशसमाप्तिरभिहिता विशेषणीभूतगुणनाशाभिप्रायेत्येव युक्तं, न हि स्वर्गी ध्वस्त इत्यादौ स्वर्गध्वंसविवक्षया तादृशप्रयोगोऽनुपपन्नो, नापि ईषत्सहासं मुखमित्यादौ विधित्सितमीषत्त्वं सहासपदार्थतावच्छेदकहासानन्वयि, यश्च विशेषणांशेऽन्वयवीजभूतो वाधः सोऽत्रापि समानः प्रत्युत क्षेमके स्वयं म्रियमाणे चन्द्रवंशस्य महाप्रतानस्व-

रूपे वार्हद्रथवंशे चन्द्रवंशनाशाऽभिधानमत्यन्त-
वाधितमिति तस्य विशेषणांशान्वयो युक्त एव,
युक्तश्चैवं ब्रह्मक्षत्रस्य यो योनिः, इत्यस्य, देव-
र्षिसत्कृत, इत्यस्य च विशेषणस्यान्वयस्तद्रूपा-
वच्छिन्नस्यैव नाशाभिधानात्। एवं च "यः सः"
इति यत्तदोरुपादानमपि नाश्यतावच्छेदकीभूत-
रूपसमर्पकतया सार्थकं, यथा यज्जीर्णं गृहं तद्
गृहं नष्टमित्यादौ, यथा वा ध्रियमाणायामपि
द्वारावत्यां भवति व्यवहारो येयं यदुकुलकाशि-
ता बलदेवकृष्णदेवाभिरक्षिता द्वारावती सेय-
मधुना नष्टेति, एवं च देवर्षिसत्कृतत्वप्रयोज-
कीभूतब्रह्मक्षत्रधर्मसंरक्षणक्षमोऽयं वंशः क्षेमके
राज्यं प्रशासति तस्याल्पवीर्यतया अधर्मप्रवणतया
च नष्ट इति युक्तं विशेषणनाशाभिधित्सया तथा-
ऽभिधानमिति, मात्स्येऽपि "अत्रानुवंशश्लोको-
ऽयं गीतो विप्रैः पुरातनैः। ब्रह्मक्षत्रस्ययो योनि-
र्वंशो देवर्षिसत्कृतः। क्षेमकं प्राप्य राजानं संस्था-
स्यति स वै कलौ" विति, तस्यापि विष्णुपुराणश्लो-
कोक्तदिशाऽर्थोऽवगन्तव्यः, ईषत्क्षेमं क्षेमकं तदस्य

विद्यते प्रशासनकाले इत्यर्थाद्यथा राज्ञः क्षेमक-
संज्ञेति निगूढ़म्। अत एव हरिवंशे भविष्ये "न
क्षत्राणि नियोक्ष्यन्ति विकर्मस्था द्विजातयः।
चोरप्रायाश्च राजानो युगान्ते समुपस्थिते"
इति स्पष्टमेव ब्राह्मणेषु स्वयं दुर्मार्गस्थितेषु
क्षत्रियाणामुन्मार्गगामित्वमुक्तम्। अथवा क्षत्रा-
णि—क्षत्रिया लोकान्धर्मे न नियोक्ष्यन्ति त-
स्मादेव हेतोर्द्विजातयो ब्राह्मणा विकर्मस्थाः स्व-
तन्त्रा नष्टाचाराश्च तत एव च चोरप्राया राजानः
एतत्तत्वं चाग्रे निरूपयिष्याम इति माहशाम-
यमसंकीर्णोऽर्थाभिलापः। राजर्षिसत्कृत इति
पाठपक्षे तु राजर्षिभिर्ययातिपुरुप्रभृतिभिर्जन्म-
ना सत्कृतः पावित इत्ययमर्थो विवक्षितः शेषं
पूर्ववत्। केचित्तु अत्रत्यस्य ब्रह्मक्षत्रस्येति पदस्य
अस्मिन्वंशे पूर्वं केषांचिज्जन्मान्तरोपार्जितसुकृत-
सहस्राणां राजर्षीणां तपोमाहात्म्यर्षिवरदाना-
दिना ब्राह्मणत्वप्राप्तिप्रसिद्धिमनुरुन्धानाः क्ष-
त्रियभूतानां ब्राह्मणानामित्यर्थमाचक्षते सोऽय-
मभ्यं नाभिरोचतेऽर्थस्तथा सति क्षत्रब्रह्मणो यो-

निरिति पाठधारणस्यैवोचितत्वादिति सुसूक्ष्म-
मीक्षन्तां विपश्चितः स्वयमेवेतिशम्। एतेन विष्णु-
पुराणे चतुर्थेंऽशे द्वाविंशाध्याये इक्ष्वाकुवंश्यान्
भविष्यतः पार्थिवान् सुरथान्तानभिधाय "ततश्च
सुमित्रोऽन्त्य इत्येते चेक्ष्वाकवो बृहद्बलान्वयाः।
अत्रानुवंशश्लोकः। इक्ष्वाकूणामयं वंशस्सुमि-
त्रान्तो भविष्यति। यतस्तं प्राप्य राजानं स
संस्थां प्राप्स्यते कलौ"। इत्युक्तं, ततश्च सूर्यवं-
शोऽपि सुमित्रेण क्षयमुपगत इति परास्तं पू-
र्वोक्तरीत्या अस्याप्यनुवंशश्लोकस्य व्याख्येयतया
तस्य सूर्यवंशनाशे प्रामाण्यविरहात्। मरुव्यति-
रिक्तानामनमित्रप्रभृतिभूपानां घोरे कलावपि
स्थितेरुक्तत्वेन निरुक्तवचनस्य मरुव्यतिरिक्तसू-
र्यवंशीयक्षत्रसामान्याभावबोधकताया असंभवाच्च
तथा हि वंशानुचरिते मात्स्ये द्वादशाध्याये
तस्यानरण्यः पुत्रोऽभून्निघ्नस्तस्य सुतोऽभवत्।
निघ्नपुत्रावुभौ जातावनमित्ररघूत्तमौ। अनमित्रो
वनमगाद् भविता स कृते नृपः"॥ इति एवं
कल्किपुराणे चतुर्थाध्याये विशाखयूपर्षिचरास्त्र-

प्रभृतिक्षत्रियाणां कलावन्ते सत्त्वमुच्यत इत्य-
न्तमप्रामाणिकं निरुक्तवचनस्य कलौ क्षत्रियसा-
मान्याभावसाधकत्वम्, अत एव चतुर्थांशे वि-
ष्णुपुराणे विंशाध्याये "देवापिः पौरवो राजा
मनुश्चेक्ष्वाकुवंशजः । महायोगबलोपेतौ कलाप-
ग्राममाश्रितौ" ॥४५॥ कृते युगे इहागत्य क्षत्र-
प्रावर्तकौ हि तौ । भविष्यतो मनोर्वंशे बीजभू-
तौ व्यवस्थितौ ॥४६॥ एतेन क्रमयोगेन मनु-
पुत्रैर्वसुन्धरा कृतत्रेतादिसंज्ञानि युगानि त्रीणि
भुज्यते ॥४७॥ कलौ तु बीजभूतास्ते केचित्तिष्ठ-
न्ति भूतले यथैव देवापिमरू सांप्रतं समवस्थि-
तौ ॥४८॥ इति स्पष्टमेव मनुपुत्राणां युगत्रितयं
भूमिभोगवतां कलौ तु दस्युखसाद्युपद्रुतानां
मरुदेवाप्यतिरिक्तानां भविष्यद्वंशबीजभूताना-
मवस्थानमुच्यते "केचित्तिष्ठन्ति भूतले" इत्य-
नेन, अत्र हि मरुदेवाप्योरिवापरेषां बीजभूतानां
न स्थानविशेषनियमोऽत एव स्थानसामान्य-
बुबोधयिषया भूतले इत्युक्तम् । एवं च भूतले
तत्र तत्र केचन शुद्धाः क्षत्रियाः कलौ खसाद्यु-

पट्टुता वंशवीजभूतान तु बहव इत्यर्थो लभ्यते अत एव तेषां शुद्धिप्रदर्शनार्थं वंशनिदानताबोधनार्थं च "यथैव देवापिमरू सांप्रतं समवस्थितौ" इत्युक्तं पूर्वं च मरुदेवाप्योः स्थानान्तरस्थत्वा "कृते युगे इहागत्य क्षत्त्रप्रावर्तकौ हि तौ" इत्युक्तमत्र तु क्षत्त्रियवंशवीजभूतानां जनावासस्थानस्थितत्वाद् भूतले इत्युक्तमित्यप्यवधेयम्। केचित्तु कल्किपुराणमत्स्यपुराणोक्तविश्वाखयूपचित्राश्वयोरनमित्रस्य च तात्पर्येण "कलौ तु वीजभूतास्ते केचित्तिष्ठन्ती" त्युक्तमिति तदा आधुनिकक्षत्त्रियपदव्यवहार्याणां विष्णुपुराणोक्तकेचित्पदेन न सत्त्वसिद्धिसंभवः। अत एव च केचित्तिष्ठन्तीति वर्तमाननिर्देशोऽपि संगच्छतेऽन्यथा तु विष्णुपुराणोपदेशकाले भविष्यतः सोमसूर्यवंश्यानभिधाय तेषां चरमान् दुर्वलान् राज्ञश्चाभिधाय तदपेक्षयाऽपि भविष्यतामाधुनिकानां कलेरन्ते कृतयुगादिसंततिसंपादकानां भविष्यतां राजन्यानां निर्देष्टुमिष्टत्वे केचित् स्थास्यन्ति भूतले इत्येवोक्तं स्याद्विश्वाखयूपादीनां तु देवा-

पिमरुवद्विषगुपुराणोपदेशकालेऽपि विद्यमानत्वा-
द्वर्तमानत्वोपदेशो युक्त एवेति वदन्ति तदेतदपि
पुराणार्थानवबोधनिबन्धनमेव। अत्र हि पुराणे
पूर्वप्रघट्टके कलिबलं तत्काले लोकानां दुर्दशां
च निरूप्य "अनन्तरं चाशेषकलेरवसाने प्रवुद्धा-
नां तेषामेव जनपदानाममलस्फटिकविशुद्धा
मतयो भविष्यन्ति ॥२७॥ तेषां च बीजभूताना-
मशेषमनुष्याणां परिणतानामपि तत्कालकृता-
नामपत्यप्रसूतिर्भविष्यति ॥२८॥ तानि च तद-
पत्यानि युगधर्मानुसारीणि भविष्यन्ति "इति"
॥२९॥ इत्युक्तं, ततश्च स्फुटमेव कलेरवसाने समु-
त्पन्नानांस्वतएव कालमहिम्ना विशुद्धा मतय-
स्तदपत्यानां च कृतयुगधर्मानुसारिमतिमत्त्वमु-
च्यते, ततश्चेदं युगधर्मानुसारिमतिमत्त्वं केवलं
ब्राह्मणानां शूद्राणां च न तु क्षत्रियाणां वैश्या-
नां चेति न शक्यं वक्तुं "तेषामेव जनपदाना-
ममलस्फटिकविशुद्धा मतयः" इत्युक्त्या तात्का-
लिकानां यावतामेव मनुष्याणां वर्णाश्रमवयो-
देशाद्यनपेक्षतात्कालिकमनुष्यत्वनिबन्धनविशु -

त्वमतिमत्त्वस्याभिधानात् अत एवैतादृशार्थबुबो-
धयिषया "जनपदानाम्" इत्युक्तं, न केवलं
तत्कालप्रसूतानामपि तु पूर्वोत्पन्नानामपि
तत्कालसतां विशुद्धा मतय इत्यर्थबोधनाय "ते-
षामेव" अत्रैवकारस्याप्यर्थकतया कलिशेषका-
लसमुद्भूततया पूर्वमयथामतीनामपि इत्ययं
तेषामेवेत्यस्यार्थः। एतदर्थदाढ्यायैवात्र द्वितीय-
प्रघट्टके "तेषां च वीजभूतानामशेषमनुष्याणां
परिणतानामपि" इत्याम्रेडितम्। न च तदानीं
मरुद्देवापिव्यतिरिक्तक्षत्रियवीजसत्त्वे उत्पत्स्य-
मानसृष्टिसंपादनार्थं मरुद्देवाप्योः क्षत्रियवंशशे-
षत्वाभिधानं तयोः कलापग्रामनिवासोक्तिः क्षत्र-
वंशहेतुत्वाभिधानं च कथं संगच्छतामिति वा-
च्यम् न हि तयोर्भविष्यद्वंशहेतुत्वाभिधानेऽपरे-
षामभावस्सिद्ध्यति अनमित्रविशाखयूपादिक्ष-
त्रियाणां कलिशेषे सत्ताया भविष्यद्वंशहेतुतायाः
पृथिव्यां तत्र तत्रान्यक्षत्रियसत्तायाश्च मत्स्यपुरा-
णविष्णुपुराणोक्ताया आस्तिकमात्रेणापलपितुम-
शक्यत्वात्, अन्यथा तु अत्रिदेवलासितास्त्वत्था-

मत्कृपरामव्यासादीनामपि कलिशेषे विशुद्धब्राह्मणानां सत्त्वात्ततः कलौ ब्राह्मणवंशच्छेदोऽपि भवताऽङ्गीकृतः स्यादित्यत्यन्तमनिष्टं भवतोऽपि तद्वत् देवाप्यादीनां भविष्यद्वंशहेतुत्वाभिधाने कलौ क्षत्रियसामान्याभावप्रसाधनरूपया निजहस्तासादितया वैयर्थ्यविपत्त्येति शम् । यदपि क्षेमकरिपुञ्जयसुमित्रादिप्रसिद्धक्षत्रियराजवंशेषु राज्यनाशानन्तरमवशिष्टा राज्यशासनहीना अपि तद्वंश्याः क्षत्रिया महानन्दिक्षत्रियसुतेन शूद्रागर्भोद्भवेन बलिना अतिलोभवता नन्देन मगधराज्यसिंहासनस्थेनातिभीषणासंख्यसैन्येन स्वयमप्यतिभीषणेन अपरिच्छेद्यसंपत्तिमता आबालवृद्धातुरं सर्वे क्षत्रियाः क्षयमनायिषतेति सांप्रतमक्षत्रमिदं जगदिति प्रलपन्ति साधु तदेषां पूर्वाङ्गीकृताशेषक्षत्रनाशानामप्यशेषक्षत्रनाशाय पुनः क्षत्रसत्त्वाङ्गीकरणं, परमेते त्रिःसप्तकृत्वोहताशेषविशेषकुलक्षत्रस्य क्षत्रनाशाकृपणपाणेः पणीकृताखिलक्षत्रनाशस्य भार्गवस्य विष्णोरंशावतारस्याकुण्ठकुठारधारस्य क्रोधाग्निं सो-

द्भवतः क्षत्रियान् शूद्रीगर्भोद्भवः कथमशेषेण प्रणाशयेदिति नाभिजानन्ति मतिमन्दाः, न चायं वाचनिकोऽर्थः, तथा हि विष्णुपुराणे "ततो महानन्दिसुतः शूद्रागर्भोद्" भवोऽतिलुब्धो महापद्मो नन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविता ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला भविष्यन्ति स चैकच्छत्रामनुलङ्घितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यती" ति। अत्र हि, परशुरामदृष्टान्तदानेन दार्ष्टान्तिके नन्दे भवितव्यं न्यूनतया अत एवात्यन्तसाम्यसंकीर्तनायाच इवपदमुपादायापि "अपरः परशुरामः" इत्युक्तं यथाऽयं राजाऽपरः कर्ण इवेत्यादौ। अतिलुब्ध इत्यनेन च क्षत्रियाणां कालक्रमेण नैर्बल्यमुपयातानां पूर्वसंचितं धनमवशिष्टा पृथिवी चापहृतेत्यर्थो दर्शितो न हि क्रोधान्धस्य लोभसंदर्शनं युज्यते इति लोभमात्रमूलघातकत्वप्रदर्शनेन निर्धनक्षत्रियाणां त्राणं ततः सिध्यति हन्तुर्नीचता च यो हि क्रोधान्धः कंचन हन्ति तदपेक्षया लोभेन हन्तारं लोकवेदयोरत्यन्तं जुगु-

सन्ति जनाः, ततश्च नन्दोऽतिजघन्यः क्षत्रहन्तेत्यपि ततः सिध्यति। ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला इत्यनेनातिलुब्धतया सर्वा भूरनेनापहृतेति शूद्रकुलं गता भूरिति सिध्यति। तदेवं वस्तुस्थितौ त्रिःसप्तकृत्वो नाशेऽपि येऽवशिष्टा पुनर्भूमेः सार्वभौमपदं चोपगतास्ते एव क्षत्रियाः शूद्रापुत्रेण नन्देन निःशेषतामुपयापिताः सर्वत्रापि राज्यसिंहासनेषु नन्देन स्वकुलसमुद्भूताः शूद्रा एव व्यवस्थापितेति च नागेशमपहायापरोऽविकलकरणः प्राचीनेतिहासार्थतत्त्ववेत्ता गृहीतपदवाक्यार्थमर्यादः कथं संभावयेदपि न हि तस्याशेषक्षत्रनाशकत्वेऽभिधित्सिते परशुरामदृष्टान्तदानमतिलोभसंदर्शनं च संगच्छते न हि चन्द्रः प्रदीपवत्प्रकाशते सूर्यो वा खद्योतवत्तमांसि विलीनयतीति प्रामाणिका व्यवहरन्ति ततश्च सकृदेव क्षपिताखिलक्षत्रगणो नन्दस्त्रिःसप्तकृत्वोऽप्यपारितक्षत्रक्षयेण जामदग्न्येन कथमुपमीयेत यदि च तादृशोपमानविरहादेव जामदग्न्येनोपमापितो नन्दः, यथा "आकाशव-

त्सर्वगतश्च नित्य" इत्यादि श्रुत्या हीनेनाप्या-
काशेन ब्रह्मोपमीयते, आकाशस्य हि सर्वगतत्वं
नित्यत्वं चापेक्षिकमपि नैयायिकमारभ्यापाम-
रबुद्ध्यारूढमिति तथोच्यते, एवं परशुरामस्या-
प्यखिलक्षत्रान्तकत्वमापेक्षिकमपि सर्वजनप्रसिद्ध-
तया लोकबुद्धिसंग्रहाय दृष्टान्तीक्रियत इत्युच्य-
ते तदा ब्रह्मणः सजातीयविजातीयस्वगतभेद-
शून्यतया तत्र दृष्टान्तालाभेऽपि अत्यन्तकप्रलय-
पयोधिप्रभृति दृष्टान्तावष्टम्भसंभवे किमिति ही-
नोपमासंश्रयणमिति ब्रूमहे, यदि तु प्रलयका-
लान्तकादीनां न केवलं क्षत्रियनाशकत्वं किन्तु
साधारण्येन सर्वजगदन्तहेतुत्वमिति क्षत्रियमा-
त्रनाशकत्वलक्षणदृष्टान्तसादृगुण्यसंपादनाय जा-
मदग्न्य एव दृष्टान्तीकृत इत्युच्यते दृष्टान्तदृष्टा-
पेक्षिकधर्माणामेव दृष्टान्ते संग्राह्यतया लोक-
वेदोभयप्रसिद्धिसिद्धतया प्रकृतेऽन्तकादीनां सर्व-
जगन्नाशकत्वेऽपि क्षत्रियनाशकत्वांशे दृष्टान्तीकर्तुं
शक्यतया तदुपेक्षायां मानाभावात्। दृष्टान्तदृ-
ष्टसर्वधर्मांस्तु अनुरुन्धतो दृष्टान्त एव दुर्लभ

इति सर्ववादिसिद्धान्तः । तदिह बहुतरक्षत्रकुलक्षयहेतुः शूद्रापुत्रो लुब्धः क्षुद्रो बलदृप्तो नन्द इत्येव विष्णुपुराणमत्स्यपुराणश्रीमद्भागवतादिप्रामाणिकग्रन्थाभिप्रेतोऽर्थ इति न पाणिपिहितं नन्दान्ताः क्षत्रियाः, नन्दान्तं क्षत्रियकुलम् इत्यादेर्लौकिकाभाणकस्याप्ययमेवार्थः । अत्रान्तपदं नाशार्थकं, ततश्च नन्देन अन्तोनाशोयेषां तादृशाः क्षत्रिया इत्यर्थः । "अन्तः स्वरूपे निकटे नाशनिश्चययोरपि" इत्यभियुक्तोक्तेरन्तशब्दस्य नाशार्थकत्वान्नाशस्य च प्रतियोगितानिरूकाभावावगाहितयैव प्रतीत्युपपत्तौ तदीयप्रतियोगितायाः सामान्यधर्मावच्छेद्यत्वे मानाभावात् । एतेन क्षत्रियक्षयप्रतीतेः तत्तद्व्यक्तित्वेतरधर्मानवच्छिन्नतत्तत्क्षत्रियव्यक्तिनिष्ठप्रतियोगितानिरूपकाभावकूटावगाहित्वाङ्गीकारे यावत्क्षत्रनाशः फलेदित्यति कुकल्पना, निरुक्तरीत्या पुराणाक्षरस्वरसलब्धार्थनिरूपणे तादृशप्रतियोगितानिरूपकाभावे मानाभावात् । यदपि भूमेर्भारावतारा‍य गृहीतमनुजविग्रहेण हरिणैव महाभारतयुद्धे

क्षत्रियाः क्षयमनायिषतेति केषांचिदवशिष्टानां निःशेषतया वधो नन्देन शूद्रापुत्रेण न दुःसंभव इत्यभिधानं तदपि मन्दानामेव। किं कदाप्यनीदृगिदं जगदिति ते विभावयन्ति सर्वदा हि लोकोऽयं बालवृद्धतरुणैः स्त्रीभिश्च परिपूर्णः, भारतयुद्धसमयेऽपि आसन्नेव बालाः शिशवोऽतिशिशवोऽथ क्षत्रियस्त्रियो गृहीतगर्भाः, कठिनगर्भाः, अतिकठोरगर्भाः, आसन्नप्रसवाश्चेति तैरेवायं लोकः पूर्यते स्म, भारतयुद्धसमये यद्यपि कुरुपाण्डवकुलयोरेकमात्रोगर्भस्थतन्तुर्महाभागः परीक्षिदासीत् यथोक्तं श्रीमद्भागवते द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं संतानवीजं कुरुपाण्डवानाम्। जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रोमातुश्च मे यः शरणं गतायाः" इति, परिक्षीणे कुरुकुले समुद्भूत इति नाम्नाऽपि परिक्षिदिति पुराणाचार्यः पराशरः, तथाऽपि देशान्तरादागतानां कुलान्तरक्षत्रियाणां चासन्नेव सन्तानतन्तव इति तैरयं लोकः पुनः पूरितः। पूर्वं हि बहुदारपरिग्रहाः समुत्पादितापत्यततयो बहुवीर्याः क्षत्रिया इति स्मरन्ति

पुराणाचार्याः । परीक्षितः कालादेकसहस्रवर्षा-
नन्तरं शूद्रासंभवो नन्दः समुत्पेदे तावता चै-
कसहस्रवर्षकालेन पुनरयं लोकः क्षत्रियकुलेन
पूरितः । यथोक्तं विष्णुपुराणे चतुर्थांशे चतुर्विं-
शाध्याये "यावत्परीक्षितो जन्म यावन्नन्दाभिषे-
चनम् । एतद्वर्षसहस्रन्तु ज्ञेयं पञ्चदशोत्तरम्"
इति, किंच निखिलपुराणप्रणयनकालानन्तरं
नन्दोत्तरकालीनचन्द्रगुप्तादिपर्यन्तं भारतवर्षी-
यवृत्तान्तमुपक्रम्य प्रवृत्तासु गुणाढ्यप्रणीतासु
बृहत्कथासु स्पष्टमेव तत्र तत्र क्षत्रियवंशकथा
उपलभ्यन्ते किंचातिसुप्रसिद्धेऽपि चेदिविक्रमभोज-
साहङ्कश्रीहर्षादीनां धारोज्जयनीकान्यकुब्जक-
श्मीरेश्वराणां क्षत्रियत्वे विवादस्तर्हि कुकर्मशता-
सादितशूद्रपिण्डपरिपुष्टमहान्धगर्तोदरकुहराणां
भवतामेव ब्राह्मणत्वमविवादपदमित्यतिचित्रं,
किंच निजवर्णोचितशावसूतकाद्याचारवतां स्व-
स्ववर्णोचितदायशास्त्रोक्तदायव्यवहारवतां सर्व-
थाऽपि शूद्रविसदृशाचाराणां क्षत्रियवैश्यानां
चेच्छूद्रत्वं तर्हि अन्तिमः पुनरेष ते सतिलोऽञ्ज-

वितीर्येत साम्प्रतिकाचारव्यवहारनिर्णायकधर्म-
शास्त्रीययावन्निबन्धेभ्यः। सर्वे हि निबन्धाश्चातुर्व-
र्ण्यमादाय व्यवहारं दर्शयन्ति तदलमेतेन नागे-
शकुकल्पनपङ्किलकुपथानुसरणसंनाहेन तस्मात्
क्षत्रियाभावप्रमापकवचनविरहात् तत्साधकनिरु-
क्तनिर्वक्ष्यमाणप्रमाणसत्त्वाच्च निष्क्षत्रं निर्वैश्यं
चेदमाधुनिकं जगदित्याचक्षाणा भ्रान्ता एवेति
सिद्धम् ॥

यद्यपि चक्षुषी पिधायैव "कलावब्राह्मणत्वे सति-
शस्त्रग्रहणप्रजापालनमात्रेण क्षत्रियसादृश्येन क्ष-
त्रियपदव्यवहार्याणां दशविंशतिपुरुषपर्यन्तमसम-
र्यमाणोपनयनानां तदग्रेऽपि तादृशानामुपनयन-
संस्कारो भवति न वेति संदेहे निर्णयः क्रियते"
इति नागेशः, अत्रायं संशयो वादिविप्रतिपत्त्याहि-
तोवक्तव्यस्तत्र निरुक्तविशेषणावच्छिन्नाः संस्कार्या
न वेति विप्रतिपत्तौ निषेधकोटिः क्षत्रियादिद्रु-
हां विधिकोटिश्चातुर्वर्ण्यव्यवस्थापकानाम्। अत्रा-
ब्राह्मणत्वे सतीत्येतदनुपादाने तादृशब्राह्मणानां
कलावपि "न ब्राह्मणः पतनमृच्छति" इति गोत-

मस्मृतिबलेन स्वेनापि क्षत्रियादिद्रुहा संस्कार्य-
तायाः स्वीकरणीयतया बाधः स्यादिति तदपनु-
त्तये अब्राह्मणत्वे सतीत्येतदुपात्तं, परमते तु
सिद्धसाधनवारणाय तदुपादेयमेव। क्षत्रियपद-
व्यवहार्याणामित्येतदनुपादाने तादृशविशेषणा-
वच्छिन्नानां शूद्राणां संस्कार्यताया श्चातुर्वर्ण्यव्य-
वस्थापकेनानङ्गीकरणीयतया बाधो भवेदिति
तद्वारणाय क्षत्रियपदव्यवहार्याणामिति, नागेश-
पक्षे तु तत्प्रयोजनं सिद्धसाधनवारणमेव इतरथा
तु तादृशरूपावच्छिन्नानां शूद्राणां संस्कार्यतायाः
केनाप्यनभ्युपेततया तेषामसंस्कार्यत्वप्रसाधने
सिद्धसाधनमेव भवेदिति । कलावित्यनुक्तौ तु
पक्षाप्रसिद्धिः कृतत्रेतादियुगेषु स्वाभाविकनिजो-
चिताचारप्रवृत्तिमतामेव पुंसां सत्त्वेन तदानीं
निरुक्तविशेषणावच्छिन्नपुरुषविरहेण पक्षाप्रसि-
द्धेरावश्यकत्वादिति कलावित्युक्तं, सममिदं
प्रयोजनं विधिनिषेधकोट्योः। दशविंशतिपुरुषप-
र्यन्तमित्यनुक्तौ द्विचपुरुषपतितसावित्रीकाणां
क्षत्रियाणां संस्कार्यतायाः कलावपि केनचिदेक-

देशिनाऽङ्गीकृतत्वाद्बाधः स्यादिति तदुपादानमावश्यकं नागेशमते,। विधिकोटिमतां तदुपादानप्रयोजनं सिद्धसाधनवारणमेवेति उक्तदिशा स्वयमेव विक्रमन्तां युक्त्यरण्यानीकेसरिणस्ताकिंकाः। अत्रैवमभिदध्महे शस्त्रग्रहणप्रजापालनमात्रेण क्षत्रियसादृश्येनेत्यत्र मात्रपदेन क्षत्रियपत्न्यामौरसाः क्षत्रियसमुत्पादिताः पुत्रा व्यावर्तनीयास्ते किं तदभावसाधकप्रमाणोपलम्भान्निराचिकीर्षिताः ? उत तत्साधकप्रमाणविरहान्न सन्तीति निषिषेधयिषिताः आहोस्वित् तेजोविक्रमगाम्भीर्यौदार्यवादान्यकात्क्षत्रिमब्रह्मण्यशौर्यादयः क्षत्रियेषु न विद्यन्ते इति सांप्रतिकाः क्षत्रियाः शस्त्रग्रहणप्रजापालनमात्रेण क्षत्रियव्यपदेशभाज इत्युच्यन्ते तत्र न प्रथमः, तदभावसाधकप्रमाणविरहात् क्षत्रियाभावसाधकतयोपन्यस्यमानानां प्रमाणाभासानामर्थान्तरपराणामर्थस्य पूर्वमेवावेदितत्वात्। नापि द्वितीयः कल्पः, पूर्वोक्तानां पराशरस्मृत्यादीनां माधवधृतपुराणादिवचनानां च कलौ क्षत्रियवैश्यसत्त्वप्रमाप-

कत्वात् । नन्दोत्पत्तिपूर्वकालीनकलिसमयमा-
त्रपरत्वन्तु न तादृशवचनानां, सामान्यतः प्रवृ-
त्तप्रमाणस्यासति बाधके, विशेषे पर्यवसानकल्प-
नायोगात् अत एव तु बृहन्नारदीये "युगधर्माः
समाख्यातास्त्वया संक्षेपतो मुने। कलिं विस्तर-
तो ब्रूहि त्वं हि सर्वविदां वरः । ब्राह्मणाः क्षत्रि-
याः वैश्याः शूद्राश्च मुनिसत्तमाः । किमाहाराः
किमाचारा भविष्यन्ति कलौ युगे"। इति ऋ-
षीणां प्रश्ने "शृणुध्वमृषयः सर्वे नारदेन महा-
त्मना। सनत्कुमारमुनये कथितं तद्वदामि वः ॥
सर्वे धर्मा विनश्यन्ति कृष्णे कृष्णत्वमागते। तस्मा-
त्कलिर्महाघोरः सर्वपापस्य साधकः । ब्राह्मणाः
क्षत्रियाः वैश्याः शूद्रा धर्मपराङ्मुखाः । घोरे
कलियुगे प्राप्ते द्विजा वेदपराङ्मुखाः । व्याज-
धर्मरताः सर्वे दम्भाचारपरायणाः । असूयानि-
रताश्चैव दृथाऽहंकारदूषिताः। सर्वं संक्षिप्यते
सत्यं नरैः पण्डितगर्वितैः। अहमेवाधिक इति
सर्वे एव वदन्ति वै। अधर्मलोलुपाः सर्वे तथा
वैतण्डिकानराः । अतः स्वल्पायुषः सर्वे भविष्य-

न्ति कलौ युगे। अल्पायुष्टं मनुष्याणां न विद्या-ग्रहणं द्विजाः। विद्याग्रहणशून्यत्वादधर्मो वर्द्धते पुनः। व्युत्क्रमेण प्रजाः सर्वाः क्षीयन्ते पापतत्प-राः। ब्राह्मणाद्यास्तथा वर्णाः संकीर्यन्ते परस्प-रम्। कामक्रोधपराः मूढा वृथा संतापपीडिताः। बद्धवैरा भविष्यन्ति परस्परवधेऽप्सवः। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः सर्वधर्मपराङ्मुखाः। शूद्रतुल्या भविष्यन्ति तपःसत्यविवर्जिताः"। इति स्पष्टमेव सूतेन घोरं कलिमुद्दिश्य तदातनाचारव्यवहार-निरूपणावसरे ब्राह्मणशूद्रयोरिव क्षत्रियवैश्य-योरपि वर्णयोः सत्ता बोध्यते, न ह्येतेषां बृहन्ना-रदीयपुराणवचनानां कथंचिदपि नन्दोत्पत्तिपू-र्वकालीनक्षत्रियवैश्यानां दुराचारबोधकतासंभ-वः, वादिनाऽपि नन्दोत्पत्तेः पूर्वं क्षत्रियाणां वै-श्यानां च शुद्धवंशप्रचारस्य आपेक्षिकसदाचर-त्वस्य च स्वयमङ्गीकृतत्वेन "ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः सर्वधर्मपराङ्मुखाः। शूद्रतुल्या भविष्य-न्ति तपःसत्यविवर्जिताः" इत्येतस्य सर्वथाऽसंग-तत्वापत्तेः। अत एव तु बृहन्नारदीये अत्रैव

प्रकरणे "कलिप्रथमपादेऽपि विनिन्दन्ति हरिं नराः। युगान्ते तु हरेर्नाम नैव कश्चित्स्मरिष्यति। शूद्रस्त्रीसङ्गनिरता विधवासङ्गलोलुपाः। शूद्रान्नभोगनिरता भविष्यन्ति कलौ युगे। कुहकैश्च जनैस्तत्र हेतुवादविशारदाः। पाखण्डिनो भविष्यन्ति चतुराश्रमनिन्दकाः। न च द्विजातिशुश्रूषां न स्वधर्मप्रवर्तनम्। करिष्यन्ति तदा शूद्राः प्रव्रज्यालिङ्गिनो द्विजाः। काषायपरिवीताश्च जटिला भस्मधूलिताः। शूद्रा धर्मान् प्रवक्ष्यन्ति कूटबुद्धिविशारदाः। अशौचा वक्रमतयः परपाकान्नभोजिनः। भविष्यन्ति दुरात्मानः शूद्राः प्रव्रजितास्तथा। उत्कोचजीविनस्तत्र महापापरतास्तथा। भविष्यन्त्यथ पाखण्डाः कापालाभिक्षवोऽधमाः। एते चान्ये च बहवः पाखण्डा विप्रसत्तमाः!। ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या भविष्यन्ति कलौ युगे। गीतवाद्यपरा विप्रा वेदवादपराङ्मुखा भविष्यन्ति कलौ प्राप्ते शूद्रमार्गप्रवर्तिनः। अल्पद्रव्या दरिद्राश्च वृथाऽहङ्कारदूषिताः। प्रतिग्रहपरा नित्यं नरा दुर्मार्गशालिनः।

आत्मस्तुतिपराः सर्वे परनिन्दापरास्तथा। वि-
श्वासहीनाः पुरुषा वेददेवद्विजादिषु। असंस्कृ-
तोक्तिवक्तारो बहुदेवरतास्तथा। परमायुश्च भवि-
ता तदा वर्षाणि षोडश"। इत्युक्तं, निरुक्तैत-
द्धर्मविशिष्टाश्च नाभूवन्नन्दोत्पत्तेः पूर्वमिति तु
नापरोक्षं, पौराणिका हि तं समयमार्षमाहुः क्व
नु पुनरार्षसमये तादृशां क्षत्रियवैश्यानां ब्राह्म-
णानां शूद्राणामेव वोच्छृङ्खलानामत्यल्पायुषां
संभव इत्यगत्या ब्राह्मणानामिव अधुना क्षत्रि-
यवैश्यानामपि सिद्धिरवर्जनीया। न च पूर्वोक्त-
बृहन्नारदीयपराशरस्मृतिपुराणादिवाक्येषु क्षत्रि-
यवैश्यपदेन प्रजापालका वाणिज्यकारकाश्च
गृह्यन्त इति न ततो जातिक्षत्रियादिसिद्धिरि-
ति वाच्यम् एकप्रकरणैकवाक्यस्थक्षत्रियवैश्यशू-
द्रपदेषु द्वयोर्मुख्यार्थत्वमपरयोस्तु क्षत्रियवैश्यप-
दयोर्गौणार्थत्वमिति विनिगन्तुमशक्यतया अप-
क्षपातिना यथार्थविचारशीलेन तथाशङ्कितुम-
प्ययुक्तत्वात् तस्मात्क्षत्रियादिसाधकप्रमाणविर-
हान्नाधुना क्षत्रिया वैश्याश्चेति रिक्तं वचः, एतत्त-

त्वं स्वावसरे पुनर्निपुणतरमुपपादयिष्यामः ।
नापि तृतीयः कल्पोऽवकल्पते यथा आधुनिकेषु
सर्वक्षत्रियेषु तेजोविक्रमगाम्भीर्यादयो न विद्य-
न्ते क्षत्रियगुणास्तथा ब्राह्मणेष्वपि सर्वेषु तपःस-
त्याध्ययनगर्वनुसरणानसूयकत्वादयो न विद्यन्ते
ब्राह्मणगुणास्तथाऽप्येके केचिदुपलभ्यन्ते ब्राह्मण-
गुणसंपन्ना ब्राह्मणास्तर्हि संसारे क्षत्रियगुणसंप-
न्नाः क्षत्रिया अपि तत्र तत्र नात्यन्तदुर्लभाः ये
कलावपि बलात्परिपालयन्ति क्षत्रधर्मम् अ-
नुसरन्ति च निजधर्मसंरक्षणसमान् ब्राह्मणा-
न्वेदतत्त्वार्थविदः, न हि सर्वो जनः सर्वथा
कृतयुगेऽपि कृतसर्वनिजधर्मकृत्य एव आसीत्
किं पुनः सर्वधर्मविप्रतीपे बलिनि कलौ सर्व-
धर्मानुष्ठानक्षमास्त्रैवर्णिकास्तेऽपि पुनः सुलभा
इति केनापि कोविदेन कदाऽपि संभावयि-
तुमपि पार्यते जनो हि सर्वोऽधुना निसर्ग-
दुष्प्रवृत्तिर्निजाश्रमवर्णपराङ्मुखवृत्तिरिति न के-
षामप्यननुभूतचरम् । अत एव तु भगवान्
पराशरः “युगे युगे च ये धर्मास्तेषु तेषु च

ये द्विजास्तेषां निन्दा न कर्तव्या युगरूपा हि ते द्विजाः" इति विस्पष्टमवोचत् न केवलं युगधर्मानुसारिणस्त्रैवर्णिकाः परं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं जगदिति आरण्यके पर्वणि भगवान् व्यासः 'भूमिर्नद्यो नगाश्चैते सिद्धा देवर्षयस्तथा। कालं समनुवर्तन्ते तथाभावा युगे युगे" इति तस्माद् यथा समयानुसारिणो ब्राह्मणास्तथाऽपरेऽपि त्रैवर्णिकाः सन्त्येवाधुनेति "शस्त्रग्रहणप्रजापालनमात्रेण क्षत्रियसादृश्येनेत्यादि अनभिज्ञानामाहोपुरुषिकानिबन्धनमेवाभिधानमिति सर्वं चतुरस्रम्। यदपि "ततो महानन्दिसुतः शूद्रागर्भोद्भवोऽतिलुब्धोमहापद्मो नन्दः परशुराम इवाखिलक्षत्रान्तकारी भविता ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला भविष्यन्ति स चैकच्छत्रामनुल्लङ्घितशासनो महापद्मः पृथिवीं भोक्ष्यतीत्युक्तम् अत्र परशुरामोपमया स्त्रीवालावधि निर्दयहन्तृत्वं सूचितं महापद्म इत्यस्य तावत्संख्यधनस्तावत्सैन्य इति चार्थः परशुरामेणेव कतिपयानामहननमपि स्यादत आह "अखिलक्षत्रान्तकारी"

ति तेन क्षत्रियसामान्याभावः सूचितस्तदेवोक्तं "शूद्रा भूमिपाला" इति नन्दस्योग्रत्वेऽप्यनुलोमसंकराणां मातृजातीयत्वाच्छूद्रा इत्युक्तं तत्तद्देशीयक्षत्रियान् हत्वा तत्संतानभूता उग्रास्तत्तद्राज्ये स्थापिता इति तात्पर्यं भागवते द्वादशे "महानन्दिसुतो राजन् शूद्रागर्भोद्भवो बली महापद्मपतिः कश्चिन्नन्दः क्षत्रविनाशकृत् ततोनृपा भविष्यन्ति शूद्रप्रायास्त्वधार्मिका इति नन्दादीनामुग्रत्वात् शूद्रप्राया इत्युक्तम् एतेन राज्याधिकारिणो मागधा एवानेन नाशिता न तु देशान्तरस्थाः, शूद्रराज्योक्तिरपि मगधदेशविषयैवेति निरस्तम्, सामान्यप्रवृत्तवाक्यस्य संकोचे मानाभावात् वक्ष्यमाणवाक्यविरोधाच्च मागधरिपुञ्जयकाल एव सर्वक्षत्रियवंशशाखानाशाच्च एतच्चाग्रे स्फुटं भविष्यति" इति नागेशः, प्राक्तदेतन्निरूपितार्थमपि पुनर्विचार्यते अत्र परशुरामोपमया स्त्रीबालावधि निर्दयहन्तृत्वं सूचितमिति यदुक्तं साधु तत् परं तु अतिलुब्ध इति विशेषणादानमहिम्ना लोभमूलक्षत्रियहननकर्तृत्वं प्रतीयते इति

राज्यलोभवता नन्देन मगधदेशीयप्राचीनवंश-
भूपाः अशेषेणाघानिषतेत्येव सिध्यति ऽत एवै-
तन्मूलतया "ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला भ-
विष्यन्ती" त्युक्तं न त्वक्षत्रिया मेदिनीति, न च
ततः प्रभृति शूद्रा भूमिपाला भविष्यन्तीत्युक्त्यैव
अक्षत्रिया मेदिनीति सिध्यति, न हि क्षत्रियेषु
भ्रियमाणेषु शूद्रा भूमिं भोक्तुमलमिति वाच्यम्
तात्पर्यविषयीभूतार्थनिर्देशमुखेन हि प्रेक्षावन्तो
वक्तुमुपक्रमन्ते इति सर्वबुद्धिमतां समयस्ततश्च
सर्वपृथिव्यवच्छेदेन अक्षत्रियत्वस्य बुबोधयिषित-
त्वे ततः प्रभृति अक्षत्रिया मेदिनीत्येवोक्तं स्यान्न
तु "शूद्रा भूमिपालाः" इति नन्दसमयानन्तरं क्ष-
त्रियाणामतिनिर्बलतया तेषु विद्यमानेष्वपि इत-
रेषां बलवतां शूद्रादीनां भूमिभोगित्वं नासंभ-
वग्रस्तम्, अत एव तु वीरभोग्या वसुन्धरेति नी-
तितत्त्वविदः। अत एव तत्र तत्र पुराणेतिहासा-
दिषु अक्षत्रियाश्च राजानः "शूद्रबहुलास्तु राजा-
नः" इत्येवोच्यते न तु क्षत्रियसामान्याभावोऽपि,
अखिलक्षत्रान्तकारित्वं तु पूर्वोक्तबाधकसद्भावात्

आपेक्षिकाखिलक्षत्रान्तकारित्वपर्यवसायीत्यसकृन्निरूपितं, परशुरामदृष्टान्तदानोक्तिरपि इवापरपदघटिता आपेक्षिकाखिलक्षत्रहन्तृत्वेनैवोपपद्यते इति न पाणिच्छन्नम् एतेन "तत्तद्देशीयक्षत्रियान् हत्वा तत्सन्तानभूता उग्रास्तत्तद्राज्ये स्थापिता इति तात्पर्यमिति" नागेशस्याभिधानं स्वतात्पर्यनिबन्धनमेव न तु पुराणर्षितात्पर्यमनुरुध्य, इह प्रकरणे देशान्तरनामानुक्त्या देशान्तरीणसर्वक्षत्रियाणामासन्नेव शूद्रागर्भसंभवाः पुत्रास्ते एव नन्देन क्षत्रियपुत्रानुत्साद्य राजसिंहासने स्थापिताः सर्वदेशेषु इत्यर्थस्य पुराणाक्षरैरलभ्यतया निजदुर्भावनासमुद्भावितत्वात् न हि नन्द आर्षशक्तिरिति श्रूयते क्वापि पुराणे, नापि वर्तमानसामयिकदेशान्तरीणक्षुणादीनामिव विचित्रशिल्पकलाकुशल इति स्मर्यते यतोऽभिभवेदखिलं क्षत्रकुलमिति तस्य साम्राज्यश्रुतिरपि मगधदेशविषयैव अथवा भवेदनेकदेशविषया न पुनरशेषभारतवर्षविषया "अनुल्लङ्घितशासन एकच्छत्रां महीमित्यादिपौराणिकी प्रसिद्धिरपि

तस्यातिबलित्वे प्रमाणं न तु मेदिन्या अक्षत्रिय-
त्वे अथवा नन्दकाले क्षत्रियाणां निर्बलत्वं शूद्रा-
णां चातिबलत्वं प्रमाण्यते निरुक्तैतद्वचनेन, अत
एव "त्रेतायां ब्राह्मणोत्तराः प्रजा द्वापरे ब्रह्म-
क्षत्रोत्तराः कलौ शूद्रदासोत्तराः" इति पुराणेषु
प्रसिद्धिः, न ह्यत्र त्रेतायां ब्राह्मणा एवासन्निति
विवक्ष्यते चातुर्वर्ण्यस्य तदानीं सर्वैरपि शिष्टैः
स्थितेरङ्गीकृतत्वात्, किन्तु तत्तत्काले तेषां तेषां
बलाबलाभ्यामेव ब्राह्मणाद्युत्तरत्वं, तथा प्रकृते
कलौ शूद्राद्युत्तरत्वं क्षत्रियादीनामप्राधान्यबोध-
नफलं न त्वत्यन्तासत्त्वबोधनपरमिति व्यक्तमेत-
दित्युपरम्यते विस्तरात्। यदपि "ततः पुरंज-
यादयो नवषड्वर्षाधिकं वर्षशतं राज्यं करिष्य-
न्ति तत्पुत्रास्त्रयोदश वाह्लीकास्ततः पुष्यमित्राद-
यस्त्रयः, ततस्त्रयोदश मेकलाः सत्यकोशला नि-
षधा नव ततो मागधो विश्वस्फूर्जिसंज्ञोऽन्यान्
वर्णान् करिष्यति कैवर्तपटुपुलिन्दसंज्ञान् म्लेच्छ-
प्रान् ब्राह्मणान् राज्ये स्थापयिष्यत्युत्साद्याखिल-
क्षत्रजातिमित्युक्तं क्षत्रजातिमित्यस्य क्षत्रजातिमु-

ग्रादिरूपामित्यर्थः। एतेन तावत्पर्यन्तमुग्रादिजा-
तिस्थितिरग्रे सापि नास्तीति सूचितमतो नैतद्द-
लानन्दोत्तरं क्षत्रियसत्तासिद्धिरिति बोध्यमिति
नागेशः, तदिदं मीमांस्यते किमत्र क्षत्रजातिमि-
त्यस्य क्षत्रजातिमुग्रादिरूपामित्यर्थकथनं क्षत्रप-
दस्योग्रत्वावच्छिन्ने रूढतया अथवा क्षत्राज् जा-
तिर्जन्म यस्येति व्युत्पत्त्या योगेनैव क्षत्रजातिश-
ब्दस्य उग्रार्थकतया, तत्र नाद्यः, अभियुक्तैः क्षत्र-
शब्दस्य उग्रे अव्यवहृतत्वेन रूढिकल्पनायाः सुदू-
रपराहतत्वात्। नापि द्वितीयः पक्षः, लक्षणादि-
समाश्रयणदोषदूषितबहुव्रीह्यादिकल्पनापेक्षया
कर्मधारयपक्षे लाघवेन क्षत्रजातिशब्दस्य क्षत्रि-
यत्वजात्यवच्छिन्नार्थकया उग्रार्थकताकल्पनस्या-
त्यन्तनिर्युक्तिकत्वात् अत एव "राजपुरोहितौ
सायुज्यकामौ यजेयाता" मित्यत्र मीमांसकैः ष-
ष्ठीतत्पुरुषादिकमुपेक्ष्य द्वन्द्व आश्रितः, एवं च
प्रकृतेऽपि लक्षणानाश्रयणात्कर्मधारय एव वक्त-
व्य इति कथं क्षत्रजातिशब्दस्योग्रार्थकत्वोक्ति-
र्नागेशस्येत्यपक्षपातिन एव साक्षिणः। यदपि

च स एव "भागवतेऽपि मागधानां तु भविता विश्वस्फूर्जिः पुरञ्जयः। करिष्यत्यपरान् वर्णान् पुलिन्दयटुमद्रकान्" प्रजाश्चाब्रह्मभूयिष्ठाः स्थापयिष्यति दुर्मतिः। वीर्यवान् क्षत्त्रमुत्साद्य पद्मावत्यां स वै पुरि गङ्गाद्वारादाप्रयागं गुप्तां भोक्ष्यति मेदिनीमित्यत्र क्षत्त्रपदं तज्जन्यत्वादुग्रपरं मागधानामित्यस्य मगधदेशीयानां संकीर्णराज्ञामित्यर्थः इति तदिदमतिनिस्सारम् असंप्रतिपन्नस्थले लक्षणामुपकल्प्य वचनकदर्थनाया अयुक्तत्वात्। यथाकथञ्चिल्लक्षणादिकमुपक्षिप्य ब्रह्मसूत्राणामपि नायिकाभेदनिरूपणपरत्वेन व्याख्याने सर्वलौकिकवैदिकव्यवहारोपप्लवप्रसङ्गात्। मागधानामित्यस्य मगधदेशीयानां संकीर्णराज्ञामिति विन्यसनं तु कालकलितपातञ्जलस्य नागेशस्यैव शोभते नेतरस्य अत्र हि संकीर्णराजानामिति वक्तव्ये न तु यथोपन्यासं। किंच मागधानामित्यस्य मगधदेशीयसंकीर्णराजपरत्वोक्तिः सर्वथापि दोषनिबन्धना अधुनाऽतिनिर्बलेषु क्षत्त्रियेषु सत्स्वपि तत्तद्देशानवासाधिष्ठातृ

त्वादिनिबन्धनस्य बघेला बुंदेला इत्यादिव्यवहारस्य शूद्रव्यावृत्तस्य क्षत्रियेष्वेव प्रसिद्धत्वात् न हि परासितक्षत्रकुला अपि असंख्यधनसमृद्धाश्च क्षत्रियेतरनृपाः औज्जयना ग्वालियरा इन्दोरा इति वा ख्यायन्ते तज्जातिनाम्ना वा तदधिकृतादेशाः सैंधिया होल्करा भौंसला इत्युच्यन्ते वा तस्माद्दुरुक्तमिदमिति पुष्कलम्। यच्च "ततश्च धनमेवाभिजनहेतुः रुचिरेव दाम्पत्यहेतुराढ्यतैव साधुत्वे हेतुरित्येवमनेकदोषोत्तरे भूमण्डले सर्ववर्णेषु यो बलवान् स भूपतिर्भविष्यतीत्युक्तं सर्ववर्णेष्वित्यस्यावशिष्टेषु ब्राह्मणवैश्यशूद्रेष्वित्यर्थः, तेऽपि कलौ अतिव्रात्यतया शूद्रत्वेनैव पूर्वं गणिता इति न विरोधः। अत्रिक्षयाश्च राजान इति वक्ष्यमाणहरिवंशात् एतेनैतद्बलात् क्षत्रियसत्तासाधनमपास्तम्"। इति तदिदमनवधानदुर्जल्पितमेव सर्ववर्णेष्वित्यस्य अवशिष्टेषु ब्राह्मणवैश्यशूद्रेषु इत्यर्थकल्पनायां प्रमाणविरहेण तथोक्तेरयुक्तत्वात् निरुक्तहरिवंशस्य तु स्पष्टमेव क्षत्रियेषु साम्राज्यशक्तिशून्यत्वतात्पर्यकत्वात्। वै-

श्यानामप्यभावस्य कलौ भवतोऽनुमतत्वेन तथो-
क्तेः स्वाभिमतार्थविप्रतीपत्वाच्च । इत्थं वैश्याना-
मप्यभावाङ्गीकारे सर्ववर्णेषु इत्यभिधानमुपरु-
ध्येत न हि क्षत्रियवैश्ययोरभावाङ्गीकारे ब्राह्म-
णशूद्रमात्रतात्पर्येण सर्वपदं संगच्छते, नापि ब्रा-
ह्मणशूद्रवर्णव्यक्तिबहुत्वतात्पर्येण सर्वपदसंगमन-
संभवस्तथाऽर्थाभिधित्सायां सर्वब्राह्मणशूद्रेषु इ-
त्यस्यैवाभिधानस्य युक्तत्वात् इतरथा शूद्रवर्णव्य-
क्तिबहुत्वतात्पर्येण प्रयुक्तस्य सर्वे वर्णा नोपनेत-
व्या इत्यस्यापि व्यवहारस्य स्वारसिकत्वप्रसङ्गः ।
किंच योऽयं कलौ वैश्यानामत्यन्ताभावोऽभिधी-
यते भवता स किंप्रयोज्य इत्यपि विवेचनीयं
तत्र यथा भवता क्षत्रक्षयहेतुर्नन्दोऽभिधीयते
तथा आहोपुरुषिकामप्यवलम्ब्य वैश्यक्षयहेतुर्नि-
र्देष्टुं न शक्यः, न च द्वित्राण्येवासन् वैश्यकुलानि
येषां नाश आकस्मिकोऽप्युत्प्रेक्ष्येत नन्दादीनां वै-
श्यजातीयत्वस्य तज्जातीयानां संख्यासमृद्धेश्च कले-
रादौ पुराणेभ्य एव सिद्धत्वात् । यदि तु "कलौ
न क्षत्रियाः सन्ति कलौ नो वैश्यजातयः । ब्राह्म-

णाश्चैव शूद्राश्च कलौ वर्णद्वयं स्मृतम्" इत्युक्तेः ।
नाधीयन्ते तदाग्नयः न यजन्ते द्विजातयः । उ-
त्सीदन्ति तदा चैव वैश्यैः सार्द्धं तु क्षत्रियाः ।
इति मत्स्यपुराणोक्तेश्च वाचनिक एव वैश्याभा-
वोऽभिधीयेत तदा पूर्वं वचनमेव सोपपुराणेषु
अष्टादशस्वपि पुराणेषु नोपलभामहे द्वितीयं तु
वचनं मात्स्ये उपलभ्यमानं सदपि न त्वदभिम-
तार्थसाधकं तस्य अग्नीनामनाधाने द्विजातीनां
ब्राह्मणानां यागादिरूपे स्वकर्मणि अप्रवृत्तौ च
सवैश्यानां क्षत्रियाणां मर्यादाव्यवस्थापकाना-
मुत्सादः अलब्धपदत्वमेव हेतुरित्यर्थबोधकत्वा-
त् । अत एव तत्र तत्र "ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां
यो बली भविता नृपः" इति श्रीभागवते बल-
निबन्धननृपत्वाभिधानेन वर्णव्यवस्थोच्छेद एव क-
लावभिधीतें न तु वर्णानामत्यन्तासत्त्वमित्यकिं-
चिदिदम् । अस्तु च भवत्पुस्तकोपलब्धमपि
कलौ न क्षत्रियाः सन्तीति पूर्वोक्तं वचनमपि
प्रामाणिकं तथाऽपि न तेऽर्थसिद्धिस्तस्य स्वस्वव-
र्णोचिताचाराः क्षत्रिया वैश्याश्च न वर्तन्त इत्य-

र्थकतायास्त्वयाऽप्यवश्यंवक्तव्यत्वादितरथा ब्राह्मणाभावबोधकवचनानां यथाश्रुतार्थाङ्गीकारे चातुर्वर्ण्यमात्रमेवोपहतं भवेदित्यनन्तमनिष्टं प्रसज्येत न चैवमर्थकथने "ब्राह्मणाश्चैव शूद्राश्च कलौ वर्णद्वयं स्मृतमित्युत्तरार्द्धमुपरुध्येत ब्राह्मणशूद्रवर्णयोरपि कलावयथाचारतया तयोरप्यभावस्यैव त्वदुक्तरीत्या वक्तव्यत्वादिति वाच्यम् क्षत्रियवैश्यापेक्षया ब्राह्मणशूद्रयोः स्वस्ववर्णोचिताचारस्याधिकस्योपलम्भेन तदभिप्रायकतया पौराणिक्याः क्वाचित्क्या आद्यन्तवर्णस्थित्युक्तेर्युक्तत्वात्। क्षत्रियाणां हि प्रजापालनलक्षणः शौर्यण्यो धर्मस्तैस्त्यक्तोयवनैः संरक्षितो वैश्यानां तु कृषिगोरक्षादिलक्षणः प्राय एव धर्मोऽग्राहि शूद्रैरिति साद्गुण्यसंपादकस्वस्वगुणाभावप्रयोज्यविशिष्टाभावतात्पर्येण पुराणेषु तथाभिधानं युक्तमेव न चैतावता विशिष्यभूतयोः क्षत्रियवैश्ययोरप्यभावः सिध्यति। पुराणेषु तत्तत्क्षत्रियवंशनाशोक्तिस्तु तत्तद्वंशशिरोधरक्षात्रधर्मसंरक्षणक्षमपुरुषाभावनिबन्धनेति तु स्वावसरे सुष्ठूपपादितमेव।

एवं च स्वरूपतः क्षत्रियवंशस्यैव वैश्यवंशस्या-
सत्त्वाङ्गीकारेऽग्रिमकृतयुगे चातुर्वर्ण्यसत्त्वमपि
मुनिर्वहं त्वदुक्तरीत्या तु क्षत्रियवंशबीजभूतयो-
र्देवापिमर्वोः सत्त्वेन तत्सृष्टिसंभवेऽपि वैश्याना-
मग्रिमसृष्टावत्यन्तोच्छेद एव स्यात् न च तदा-
नीं भगवत्संकल्पसम्भवा एव वैश्याः सांकल्पि-
कसृष्टेरादियुगे एवाङ्गीकारेण मध्ये तथाऽकल्प-
नात्। किंचैवं क्षत्रियाणामपि भगवत्संकल्प-
संभवत्वाङ्गीकारे तन्मूलपुरुषकल्पनाक्लेशोऽप्य-
पार्थक एव न च वैश्यानामपि भाविसृष्टौ वंश-
प्रवर्तकः कश्चन पुरुषोऽवतिष्ठते इति कल्प्यम्-
एतादृशोच्छृङ्खलकल्पनापेक्षया वैश्यवंशसद्भा-
वकल्पनाया एव युक्तत्वात्। किंच क्षत्रियवं-
शादिभूतयोर्देवापिमर्वोरपि सत्यसुवर्चोनामानौ
श्रूयेते पुत्राविति देवापिमर्वोर्भार्यासद्भावः क-
ल्पनीयो न च पुत्रावेवानूढौ सन्तौ सर्जना-
यालमिति तत्पत्न्यावपि कल्प्ये न च ते अपि
पत्न्यौ संनिहितसंबन्धे धर्म्ये भवत इति तत्प-
त्नीपितरावपि विभिन्नकुलसंभवौ कल्पनीयौ

इत्यनवस्थितैच्छिकनिरर्गलकपोलकल्पनापेक्षया वंशसत्त्वकल्पनैव साधीयसीति नम्रीभूयार्थयामहे एतच्च पूर्वमप्यस्माभिर्निरूपितमिति तत्र तत्राव-धेयम्। यत्तु ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणामिति भागव-तश्लोकस्थक्षत्रादिपदं न जातिक्षत्रादिपरं किन्तु क्षत्रवैश्यादिवृत्त्या जीवत्सु ब्राह्मणेष्वेव क्षत्रवैश्या-दिव्यवहारपरमिति तदतीव दुर्भणितम् अत्र हि यो बली भविता नृपः इति कथनेन बलरूपलौ-किककारणप्रयोज्यमेव नृपत्वं न तु सनातनम-र्यादाप्राप्तं क्षत्रजातीयत्वनिबन्धनं नृपत्वमि-त्ययमर्थो बोध्यते ततश्च क्षत्रवृत्त्या जीवत्सु ब्रा-ह्मणेष्वेव लौकिकनृपत्वसामग्रीसंबलनेन ब्राह्म-णवैश्यशूद्रवृत्त्या जीवत्सु ब्राह्मणेषु च लौकिक-सामग्र्या नृपत्वप्रयोजिकाया असम्भवेन तेषां राजपदप्राप्तिप्रयोजककारणवैधुर्ये "ब्रह्मविट्क्ष-त्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः" इत्यभिधा-नमसंगतमेव व्यासस्य प्रसज्येत, तस्मात् ब्रह्मक्ष-त्रविडादिपदं जात्या ब्रह्मक्षत्रादिपरमेव वक्तव्यं, भवति चैवमर्थानुग्रहः कलौ क्षत्रादिसमुद्भवाना-

मपि बलहीनत्वात् शूद्राणामपि च राज्यार्जनरक्षणाद्यौपयिकबलशालित्वेन योबली स एव नृपो न तु चिरमर्यादाप्राप्तं क्षत्त्रजातीयत्वनिबन्धनं नृपत्वमित्यक्षरस्वारस्यात्। भवदुक्तरीत्या शस्त्रग्रहणप्रजापालनाचारा ब्राह्मणा एव क्षत्त्रियाः कृषिगोरक्षवाणिज्याचाराश्च त एव ब्राह्मणा वैश्या इति बलनिबन्धनराज्योक्तिश्चतुर्णामुपरुध्येतेति स्फुटमेव। यदि तु क्षत्त्रियादिपदेन व्यवह्रियमाणाः क्षत्त्रियादिपदेनोच्यन्त इत्युच्यते तर्हि ओमिति ब्रूमः, बलवत्तरबाधकोपन्यासं बिना क्षत्त्रियादिपदव्यवहारस्याधुनिकस्य क्षत्त्रियेतरेषु वक्तुमशक्यत्वात् इतरथा ब्राह्मणशूद्रादिव्यवहारस्यापि आधुनिकस्य शक्तिभ्रममूलकस्य परेणोद्भाव्यत्वात् क्षत्त्रियवैश्यविरहप्रमापकवचनाभासानामिव ब्राह्मणाभावबोधकवचनानाभासानामपि पुराणेषु परेण दर्शयितुं शक्यत्वात् यदि तेषां विशिष्टविशुद्धब्राह्मणाभावबोधकतया निर्वाहस्तर्हि क्षत्त्रियाद्यभावबोधकवचनानामपि तथैव निर्वाह इति न कश्चिद्विशेषोऽन्यत्र दुरभि-

निवेशादित्यस्मत्पक्ष एव किं न संतुष्यसि। यदि तु क्षत्रियादिसत्त्वं नन्दस्याशेषक्षत्रकुलक्षयहेतुता या जामदग्न्यविसदृश्या: पुराणेषु प्रसिद्धा विवादपदं न तथा ब्राह्मणादिसत्त्वं कस्यापि विवादपदमिति ब्राह्मणाभावबोधकवचसां कथंचिदपि निर्वाह:, क्षत्रियाभावबोधकानां तु वचसां बलेनापि तादृशार्थबोधनायैव यतनीयमस्माकमेव तत्र महाविप्रतिपत्तेरित्युच्यते तर्हि अनादिपापवासनादूषिताशेषशेमुषीकाणां केषांचिद्वेदविमुखानां वेदे वेदपुरुषे च विप्रतिपत्ते: क्षणभङ्गुरेऽप्यमुष्मिन् यमयातनापातशतसाधने देहे चाविप्रतिपत्ते: परे एव विजयेरन्निति विप्रतिपत्तिरकिंचित्करीत्येवावाभ्यां वक्तव्यमिति शाम्यतु भवान्। पौराणिकानि क्षत्रकुलक्षयबोधकवाक्यानि तु पूर्वमेव सुनिपुणं व्याख्यातानि न हि तत्र नन्दे परशुरामापेक्षयाऽतिशयो बुबोधयिषितस्तादृशार्थबोधकपदविरहात् । यद्यखिलक्षत्रान्तकारित्वेनैवातिशये भ्राम्यसि तर्हि प्रकृते परशुराम इवाखिलक्षत्रान्तकारी भविता नन्द:। अत्र वाक्ये

नन्दपरशुरामयोः सादृश्यं न भवनमात्रेण सर्व-भुवनसाधारणेन अनतिशायकविश्वविश्वान्तधर्मेण। किन्त्वखिलक्षत्रक्षयहेतुत्वेनैवेति न कश्चिदतिशयो नन्दे, प्रत्युतोपमेयस्योपमानमपेक्ष्य हीनगुणतया नातिशयः कथमपि। तस्मादशेषब्रह्माण्डनायकस्य विष्णोरंशावतारस्य भगवतोभार्गवस्यापि वीर्यमतीत्य भुवनं बिभ्रतश्चातुर्वर्ण्यरक्षणदीक्षाः क्षत्रियाः, कलावपि बलान्निजधर्मरक्षणकृतक्षणा वैश्याश्च सन्त्येवेति सद्भिरनुमतो वैदिकः पन्थाः॥

इति श्रीकाशीस्थब्रह्मामृतवर्षिणीसभासंपादकेन परमपुरुषकृपासरित्पूरपरीवाहपूर्णपात्रेण पण्डितवरश्रीराममिश्रशास्त्रिणा प्रणीता परमपुरुषार्पिता व्रात्यसंस्कारमीमांसा शुभम् शम्॥

॥ श्रीः ॥

यावच्चकास्तः खलु पुष्पवन्तावन्तर्जगत्यक्षियुगं परस्य। क्षत्रार्यवंशावपि तावदेव देवाधिदेवस्य भुजोरुभूतौ॥ नित्यस्य नित्यं परमस्य पुंसः पदं मुखं च स्फुरतोजगत्याम्। बाहू तथोरू तु पुनर्न हि स्तः शस्तं हि येनेदमहो स शस्तः॥

श्री पण्डित राममिश्र शास्त्री जी की बनाई पुस्तकें

शुद्धिसर्वस्व ... ... ॥)

रत्नपरीक्षा ... ... ।≈)

मंत्रमीमांसा भास्करसहित ... ... ॥)

उद्वाह मीमांसा (छपती है)* ... ... ।≈)

---

*According to the Dharam Shastra the prohibition of Infant marriage.

This book has been dedicated to His Honor Sir Aukland Colvin K. C. S. I. The Lieutenant Governor of N. W. P. and Oudh.